क्रान्तिकारी तुलसी

लेखक

श्री नारायणसिंह

बी० ए०, एल-एल० बी०

शक १८८०

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

प्रथमवार ५०० प्रतियाँ

मूल्य दस रुपये

सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

प्रकाशकीय

गोस्वामी तुलसीदास जी का नाम हिन्दी-भाषी जनता के हृदय में चिर अंकित है। उन्होंने अपनी सरस, मधुर और लोकोपकारिणी वाणी से अपने आराध्य मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र के गुणों का जो वर्णन किया है, वह हिन्दी साहित्य की अक्षय निधि है। ऐसा विरला ही कोई व्यक्ति होगा जो गोस्वामी जी की कृतियों के प्रति श्रद्धा से नत न हो जाता हो।

हिन्दी साहित्य और विश्व की अन्य प्रमुख भाषाओं में भी तुलसीदास के विषय में पर्याप्त लिखा-पढ़ा गया है। जिनमें देशी-विदेशी अनेक विद्वानों ने तुलसीदास के सम्बन्ध में अपने-अपने दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं। किन्तु इधर कतिपय ऐसे भी अनुसन्धान प्रस्तुत किये गये हैं, जिनमें तुलसीदास के वैयक्तिक जीवन के माध्यम से उनके सामाजिक अथवा सांस्कृतिक विचारों पर आरोप लगाये गये हैं। ऐसे ही अन्वेषणों का गंभीर अध्ययन करके प्रस्तुत पुस्तक के लेखक श्री ठा० नारायणसिंह जी ने गोस्वामी तुलसीदास को व्यावहारिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से महान् क्रान्तिकारी सिद्ध करने की सफल चेष्टा की है। हमारा विश्वास है, रामकथा के प्रेमी पाठकों को इस विवेचन से तुलसी के यथार्थ विचारों को समझने में पर्याप्त सहायता मिलेगी।

—रामप्रताप त्रिपाठी

अनन्त चतुर्दशी, २०१५ सहायक मंत्री



लेखक की पूजनीया माता
श्रीमती कमलादेवी

सांसारिक विघ्न-बाधाओं के बीच शतायु पार
कर जाने पर भी सदैव ईश्वर-चिन्तन,
आत्मगौरव और विचार-स्वातन्त्र्य
की छाप अपने पुत्रों के मानस-
पटल पर अंकित कर
देने वाली अपनी
पूजनीया माता
कमलादेवी के
कर-कमलों
में

विषय-सूची

क्रान्तिकारी तुलसी

(एक दृष्टि में)

एक समय ऐसा था जब तुलसीदास उपेक्षा की दृष्टि से देखे जाते थे। फिर "सूर सूर तुलसी ससी" कहकर वे कवियों की मध्यम कोटि में उठाये गये। इसके पश्चात् उनकी कविता में न केवल साहित्यिक श्रेष्ठता, वरन् उनके व्यक्तिगत मानवोचित आचारों की झलक भी दिखाई गई। पर आज वह समय है जब सूरदास ही के मुख से यह कहलवाया जाता है, जैसा कि इस पुस्तक के अन्दर मिलेगा, कि **गोस्वामी जी की कविता तो कविता है ही नहीं, मैं तो उसे 'सर्वोत्तम महामन्त्र' मानता हूँ।**

'महामन्त्र' कहने से तुलसी की केवल काव्य-श्रेष्ठता अथवा विचार-धारा ही पर प्रकाश नहीं पड़ता, वरन् उनकी आचार-श्रेष्ठता भी प्रकाशित हो उठती है। 'सर्वोत्तम महामन्त्र' का घोष उसी मनुष्य की वाणी से उच्चरित होकर आदरणीय होता है जो अपने सदाचारों के कारण 'महापुरुष' कहाता हो, और महापुरुष होने का अधिकारी केवल वही होता है जो मानवमात्र को अभेद दृष्टि से देख सबके हित-चिन्तन से समाज में कर्मशील होकर रहे, तथा आवश्यकतानुसार निर्भीकतापूर्वक समाज में प्रचलित बुराइयों को मिटाने के लिये क्रान्ति मचा दे।

परन्तु आश्चर्य है कि तुलसी को उपर्युक्त शिखर पर ले जाकर बैठालने वाले अनुसन्धायकों ने ही उनके कतिपय कथनों के आधार पर उनकी जीवनी पर कुछ ऐसे छींटे मार रखे हैं कि जिन्हें देखकर कोई भी निष्पक्ष समीक्षक उन्हें मानवता का प्रतीक महापुरुष कहने को तैयार नहीं हो सकता। जहाँ एक ओर इन अनुसन्धायकों ने उन्हें वैष्णवी साम्पदायिकता के कठघरे में बन्द कर रखा है; वहीं उस कठघरे के भीतर भी उन्हें नारीवर्ग का विद्वेषी

कहकर पुरुष-वर्ग का हिमायती बना डाला है। इतना ही होता तो गनीमत रहती। पर इससे भी आगे बढ़कर उन्हें ब्राह्मणों का पक्षपाती और शूद्रों का द्रोही कहकर उनपर भेद-भाव के कलंक का वह टीका लगा दिया है, जिसे देखकर उन्हें मानवता का प्रतीक महापुरुष कहना तो दूर, मानवता का द्रोही कहना ही उपयुक्त हो सकता है।

यह तो हुई, उनके पक्षपातपूर्ण तोड़-फोड़ करने वाले कारनामों की तसवीर। अब देखिए, उनकी कापुरुषता की तसवीर, जो इन लोगों ने अपनी कल्पना के रंगों से खींच कर रखी है। कहा जाता है कि उनकी उत्पत्ति अवैध संसर्ग से हुई, वे मगन-कुल के थे, उनकी कोई जाति-पांति नहीं थी, वे कूकर के समान दर-दर पर रोटी के टुकड़े मांग कर तथा जूठी पत्तलों को चाटकर अपना पेट पालते थे--'माँगि कै खैबो और मसीद (मसजिद) को सोइबौं' यही उनकी जीवनचर्या थी!

ये कैसे विचित्र अनुसन्धान है उस युग दृष्टा महापुरुष के विषय में, जो 'सर्वोत्तम महामन्त्र' फूँकने वाला कवि-श्रेष्ठ कहा जाय!!

या तो यह अनुसन्धान ही निदान सत्य मान लिया जाय और तुलसी को तिरस्कृत कर्म-हीन जन-द्रोही करार दे दिया जाय, या फिर इन अनुसन्धानों को निन्तात असत्य और अनर्गल सिद्ध कर तुलसी को मानवता का प्रतीक, क्रान्तिकारी कर्मयोगी ही सिद्ध किया जाय।

बस! यही इस पुस्तक का प्रतिपाद्य विषय है। इसमें आपको राम-कथा-विषयक कतिपय आवश्यक संज्ञाओं वा प्रसंगों पर, एवं तुलसी के कथनों तथा उनकी जीवनी से सम्बन्धित कुछ वार्ताओं पर लेखक का ऐतिहासिक, वैज्ञानिक वा व्यावहारिक दृष्टिकोण से किया हुआ गंभीर अध्ययन और विवेचन मिलेगा, और उसके आधार पर आप देखेंगे कि तुलसी न केवल महाकवि अथवा महासन्त ही था, वरन् अपने युग का, गान्धी आदि के समान, एक महाक्रान्तिकारी कर्मयोगी भी था—उसकी राम-धुन में आपको निष्काम कर्म का वही गुह्य सन्देश मिलेगा जो महात्मा गांधी की अहिंसा-धुन में आपको मिलता है।

यह उलटी-धारा क्यों ?

इस संसार में उलटी-धार बहने वाला या तो उपहास का पात्र बन कर रह जाता है, या फिर क्रान्तिकारी ही कहलाने का अधिकारी बन बैठता है। इधर में प्रायः उलटी-धार ही बहा हूँ। एक बेचारे सीधे-सादे, संसार से विरक्त, तिलकधारी, चातक की रटन को आदर्श मानकर नित्य राम-नाम की माला फेरने वाले परम वैष्णव, भक्त-प्रवर तुलसी को असाम्प्र-दायिक महाक्रान्तिकारी कर्मयोगी के रूप में खड़ा करना, आप कहेंगे, पागल-पन नही तो क्या है !

आखिर यह उलटी-धार क्यों ? आलोचना के वेश में विष-रस-भरीं-कनक-घट जैसी 'मानस मीमांसा' की तुलसी के प्रति कटु, दूषित और अन्याय-पूर्ण भाषा और भावनाओं को देखकर हृदय तिलमिला उठा। कलम उठी, और 'मानस मीमांसा' में बहाई हुई 'धार' के विरुद्ध उलटी-धार बहाना आरम्भ कर दिया। परन्तु कुछ समय बाद अन्तरात्मा में प्रतिक्रिया हुई। लेखनी ठिठकी। अन्तः प्रेरणा हुई कि व्यक्तिगत आलोचना में उलझने के बजाय उसी विषय पर व्यापक दृष्टि से कोई समाजोपयोगी ग्रन्थ लिखा जाय तो अधिक उपयोगी होगा। बस ! विचार बदल पड़ा। लेखनी ने रुख फेरा और व्यापक-भाव से प्रेरित होकर वह लगी बहाने वही उलटी गंग-धार जो आज आपके समक्ष इस पुस्तक-रूप में प्रस्तुत है।

उलटी धार—नहीं, उलटी गंग-धार बहाना कुछ आसान नहीं। एक तो यों ही वर्षों पुरानी विचार-धाराओं के विरुद्ध चूँ करना कठिन होता है। फिर, उनके खण्डनार्थ तथा अपने मत के मण्डनार्थ प्रचुर प्रामाणिक सामग्री तथा प्रखर बौद्धिक बल चाहिए। प्रामाणिक और पर्याप्त सामग्री एकत्र करने के हेतु जीवन के व्यापक क्षेत्रों में बहुत काल तक एक गंभीर

विचारशील अन्वेषक के रूप में देश-भ्रमण की आवश्यकता थी; परन्तु उसके लिए पर्याप्त समय और अर्थ का अभाव बाधक हुआ। तब फिर एक यही साधन रहा कि तुलसी-विषयक आवश्यक उपलब्ध साहित्य का गवेषणा-पूर्ण अध्ययन किया जाय, और प्रमाण-कल्पना-तर्क के द्वारा सुदृढ़ की हुई निर्मल बौद्धिक-शक्ति का प्रयोग किया जाय। इसी का संबल लेकर लेखनी चल पड़ी। यही भावना इस पुस्तक के प्रणयन में प्रेरणास्रोत रही। यद्यपि मैं जानता हूँ कि तुलसी के सम्बन्ध में मेरा बौद्धिक-कोष अन्यान्य धुरन्धरों के बौद्धिक-कोषों की अपेक्षा अति स्वल्प है। किंतु आशा है, सुविज्ञ पाठक नैतिक-मूल्यांकन (moral values) की दृष्टि से मुझ निर्धनी के कठिन परिश्रम से अर्जित इस किंचित अर्थ का न केवल तिरस्कार न करेंगे, वरन् अपनी सुविज्ञता और सहृदयता के विचार से अपने शुभादेशों द्वारा मुझे अपनी अटपटी-अशुद्धियों को शुद्ध करने के लिये प्रोत्साहित भी करेंगे।

आप क्या करेंगे यह तो आपके हाथ की बात है। पर परिश्रमी का पारि-तोषक गोस्वामी तुलसीदास के शब्दों में 'स्वान्तः सुखाय' अथवा आत्म-सन्तोष के लिए होता है। इसके अनुसार यदि मैं यह कहूँ कि सिर पर वृद्धावस्था की भारी गठरी होते हुए भी जिस शारीरिक परिश्रम, बौद्धिक तन्मयता तथा हार्दिक उल्लास से मैंने तुलसी और राम-चरित मानस सम्बन्धी प्रायः समस्त विवादास्पद तथा भ्रमोत्पादक विषयों पर वैज्ञानिक (Scientific) और व्यावहारिक (Practical) विधि से यथाशक्ति प्रकाश डालते हुए इस ग्रन्थ के निर्माण के लिये जो प्रयत्न किया है, उससे मुझे अमित आत्म-सन्तोष ही हुआ है, तो कुछ असत्य न होगा। यदि मेरे इस प्रयास में एक भी सहृदय पाठक को किंचिन्मात्र सन्तोष-प्रद सामग्री मिल गई तो मैं अपने इस प्रयास को सफल मानूँगा। परन्तु सबसे अधिक सफलता तो उस दिन होगी जिस दिन यह सुना जायगा कि तुलसी के जीवन के इस कर्म-प्रधान पहलू पर भी खोजें की जाने लगी हैं।

पुस्तक को पढ़ते समय पाठकों को यत्र-तत्र पुनरावृत्तियों की प्रतीति होगी। परन्तु निर्दिष्ट विषयों के पारस्परिक सम्बन्ध तथा विचार-तारतम्य

के कारण उसे अनिवार्य समझ पाठकगण कृपया उसके लिए लेखक को क्षमा करेंगे।

अन्त में पाठकों से यह निवेदन करना भी आवश्यक है कि जहाँ-कहीं इस पुस्तक में रामचरित मानस के दोहों या चौपाइयों का उल्लेख करना पड़ा है, वह गीता-प्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित रामचरित-मानस (गुटका संस्करण) के आधार पर किया गया है। इसमें दो-एक स्थानों पर शोभारामजी 'मञ्जु' द्वारा सम्पादित तुलसीदासकृत रामायण (मञ्जु संस्करण) का भी उल्लेख आया है। इसलिए मैं इन संस्करणों के सम्पादकों तथा अन्य ग्रन्थकर्ताओं का, जिनके ग्रन्थों से इस पुस्तक के लिखने में सहायता मिली है, अत्यन्त आभारी हूं।

: १ :

तुलसी की क्रान्ति-दृष्टि

क्रान्तिकारी महापुरुष तुलसी—

तुलसी हमारी दृष्टि में एक महाकवि था, महासन्त था और क्रान्तिकारी महापुरुष भी। वह महाकवि था, इसमें कोई मतभेद नहीं है। वह महासन्त था, इसमें भी कुछेक विद्वेषियों को छोड़ जैसा कि आगे प्रकट किया जायगा, प्रायः सभी एक मत हैं। परन्तु वह क्रान्तिकारी महापुरुष था, इस पर अभी तक हमारी समझ में किसी ने विचार ही नहीं किया। प्रायः सबने उसे रात-दिन राम-नाम की माला फेरने वाला, अथवा 'राम-बोला' कहकर समाज के लिये एक निष्क्रिय, अव्यावहारिक मानव समझकर ही सन्तोष कर रखा है। किसी ने यह नहीं सोचा कि उस की राम-भक्ति निरी छूँछी राम-राम रटने मात्र की क्रिया नहीं है, वरन् उसमें 'निष्काम कर्म-परायणता' अथवा 'अनासक्त समाज-सेवा' का भाव छिपा हुआ है, जिसके लिये समाजोद्धारक सदैव तड़फते रहे हैं, और आज भी बुरी तरह से तड़फड़ा रहे हैं।

क्रान्तिकारी महापुरुषों के लक्षण और उन पर आघात—

तुलसी क्रान्तिकारी महापुरुष था इसका विवेचनात्मक विवरण तो आगे ही किया जा सकेगा। सम्प्रति संक्षेप में इतना जान लेना चाहिए कि क्रान्तिकारी महापुरुष कहलाने का अधिकारी वह पुरुष होता है जो (१) स्वार्थ और अभिमान (अहंकार) को त्याग कर (२) प्राणीमात्र—और नहीं तो कम से कम मानव-समाज को वास्तविक सुख-शान्ति प्राप्त कराने के हेतु (३) साधु सात्त्विक वृत्ति के द्वारा (४) एकात्म भाव से प्रेरित हो (५) दशा तथा देश-काल के अनुसार (६) सामाजिक दुर्व्यवस्था अथवा करी-

तियों को (७) यथाशीघ्र मिटाने के लिए (८) प्राण-पण से संलग्न हो गया हो। परन्तु यह ऐतिहासिक प्रमाणों द्वारा निश्चित सिद्धान्त है कि इस प्रकार के उच्चकोटि के क्रान्तिकारी महापुरुषों के वाक्य, प्रचलित विचार-धारा और व्यवस्थाओं के अननुकूल होने के कारण, उनसे निम्नस्तर के लोगों के लिये, जिनका लक्ष्य केवल स्थूल भौतिक जगत् ही रहता है, बड़े अटपटे, अतार्किक, असंगत, अनीतिमय और अन्यायपूर्ण प्रतीत होते हैं, चाहे वे कितनी ही सरल-सीधी भाषा में क्यों न व्यक्त किये गये हों। वाक्य ही क्यों, उनकी गति-विधि अर्थात् उनके व्यक्तिगत आचारों और योजनाओं में भी लोग विचित्रता, सन्देह, कपट या पाखण्ड सिद्ध करने में हिचकिचाहट नहीं करते। इसका परिणाम यह होता है कि वे रज्जु में सर्प का भ्रम होने वाले मनुष्य के समान सत्य पर असत्य का और असत्य पर सत्य का आरोप करने लगते हैं, यहाँ तक कि कई एक मनचले अपनी मूर्खता के पागलपन में आकर उन बेचारों पर आघात कर बैठते हैं, और कभी-कभी उनके प्राणान्त तक कर डालते हैं। वर्तमान कालीन आर्यसमाज-प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती को विष-पान कराना तथा महात्मा गांधी की रिवालवर से हत्या करना, एवं प्राचीन-काल में भगवान् श्रीकृष्ण के पद में व्याध के द्वारा वाण का वेधना तथा नाना प्रकार की पाशविक महायंत्रणाएँ देते हुए महात्मा यीशू-मसीह का सूली (क्रास) पर टांगना—सहस्रों दृष्टान्तों में से कुछेक हैं। केवल शरीर पर आक्रमण करना ही आघात नहीं कहाता। दुर्भावना से प्रेरित हो किसी के प्रति अपशब्द बोलना अथवा उपहास, निन्दा आदि करना भी आघात होता है। अनेक महापुरुषों का छुटकारा केवल इसी प्रकार के मौखिक आघात से हो जाया करता है। तुलसीकृत 'कवितावली' और 'विनयपत्रिका' में कहे हुए तुलसी के कतिपय कथनों से प्रतीत होता है कि उन्हें भी मौखिक उपहास तथा सामाजिक तिरस्कार रूपी आघातों का शिकार होना पड़ा था। कोई उन्हें 'राम-बोला' कहकर चिढ़ाता था, तो कोई उन्हें 'कुजात' 'अभागा' 'आलसी' या 'कूकर समान टुकड़खोर' कहकर तिरस्कार करता था।

क्रान्तिकारी तुलसी की प्राथमिक और केन्द्रीय भावनाएं

क्रान्तिकारी महापुरुष की उपर्युक्त परिभाषा से यह विदित है कि हर क्रान्तिकारी महापुरुष का ध्येय होता है 'मानव-समाज में वास्तविक सुख-शान्ति की स्थापना करना।' मानव-समाज को दुखी देखकर उसका मन तिलमिला उठता है। समाज की किसी एक व्यवस्था के खराब होने से उसकी अन्य व्यवस्थाओं पर भी उसका परोक्ष या अपरोक्ष रूप से, धक्का लगता है, जिसके फलस्वरूप सारा समाज दुख-सागर में डूबा दिखाई देने लगता है। इसलिए इतिहास को गंभीरता से पढ़ने वालों को यह पता लगता है कि क्रान्तिकारी मनुष्य का ध्यान सर्वप्रथम समाज की उस व्यवस्था की ओर आकृष्ट होता है, जिसमें उसे सबसे अधिक बुराई दिखाई देती है। उसे ही संसार के सभी दुःखों की जड़ समझ वह उसे उन्मूलित करने के लिए ही कर्म क्षेत्र में उतर पड़ता है, क्योंकि वह जानता है कि उस मूल-रोग के नाश हुए बिना समाज को वास्तविक सुख-शान्ति नहीं मिल सकती। उदाहरण-स्वरूप स्वर्गादि प्राप्ति आदि फलों की कामना से किये गये तत्कालीन यज्ञादि वैदिक कर्मों के दुष्परिणामों को देखकर कृष्ण (अथवा गीता-रचयिता द्वैपायन व्यास ही कहिए) के हृदय में 'अनासक्त कर्म योग' की भावना प्रबल हुई थी। यहूदियों की धार्मिक व्यवस्था तथा रोम साम्राज्य की राजनैतिक व्यवस्था में पारस्परिक 'घृणा और दुष्कृति' (hate and evil) के कारण यीशू मसीह के हृदय में मानवीय 'प्रेम और सत्कर्म' (Love and goodness) के भाव जागृत हुए थे, आर्थिक दुर्व्यवस्था के कारण गरीब-धनवानों की असह्य असमता से प्रभावित होने पर ही मार्क्स ने 'पूंजीपति—श्रमिक, के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था, और विजित-विजेता एवं काले-गोरे आदि भेद-भावों के आधार पर अपमान-जनक दुर्व्यवहार को देखकर महात्मा गांधी की बुद्धि में नवीनता लिये हुए व्यापक 'अहिंसा तत्त्व' का प्रादुर्भाव हुआ था। निश्चय ही इसी तरह सनातनी वर्ण और आश्रम व्यवस्था के नष्ट-भ्रष्ट हो जाने के कारण हिन्दू-समाज

को अकर्मण्य, दुष्कर्मण्य, छिन्न-भिन्न और परतंत्र देखकर क्रान्तिकारी तुलसी के मन में 'राम' का भाव उठा।

क्रान्तिकारी महापुरुष का इस तरह उठा हुआ भाव उसकी समस्त विचार-धाराओं और योजनाओं का केन्द्र बन जाता है। वे सब उस केन्द्र के आसपास इस तरह घूमा करते हैं जैसे सूर्य के आसपास उससे सम्बंधित ग्रह-उपग्रह चक्कर लगाते हैं। जब कभी वह प्रसंगवश समाज के किसी अन्य अंग-विशेष या योजना की चर्चा करता है, तब भी वह घूम-फिरकर उसी भाव पर आ जाता है, क्योंकि वही उसके इष्ट समाज-सुख और शान्ति का मूलाधार रहता है। गीता उठाकर देखिए तो आप को बार-बार 'अनासक्ति' अथवा उसका पर्यायिबाची किसी दूसरे पद या शब्द का पाठ मिलता है। इसी तरह बाइबिल में 'प्रेम' का, मार्क्स-साहित्य में 'आर्थिक योजना' का और गांधी-साहित्य में 'अहिंसा' का बार-बार कथन पाया जाता है। इसी भाँति जब हम तुलसी साहित्य को पढ़ते हैं तो हम उसमें बारंबार 'राम-नाम की रटन' देखते हैं। उस समय ऐसा मालूम पड़ता है कि मानो तुलसी उसके पीछे पागल ही बन गया है, यहाँ तक कि उसने उसको न केवल स्वाति-चातक-रटन की उपमा दे रखी है, प्रत्युत उसे मानव-जीवन का प्राण ही माना है। इसी राम-नाम के केन्द्र के आस पास तुलसी ने अपने समस्त कथनों और समाज-सुख-साम्राज्य की विचार-धारा को घुमाया है।

तुलसी का त्रिभावात्मक राम

तुलसी का वह राम कौन है, इसे जानने के पहिले आप अपने हृदय से पूछिए कि क्या आप निर्गुण, सगुण तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध को भली भाँति जानते हैं, और यदि जानते हैं तो उनके इस पारस्परिक सम्बन्ध को आप तत्त्वज्ञानियों की व्यवहार शून्य निरी कपोल-कल्पित गपोड़बाजी तो नहीं समझते। यदि आपको यह ज्ञान हो कि निर्गुण-सगुण-सिद्धान्त जीवन के आन्तरिक और बाह्य दोनों पहलुओं को बताकर जीवन की पूर्णता और व्यावहारिकता का दिग्दर्शन करानेवाला स्वाभाविक अटल नियम है तो आइए तुलसी के राम को पहचानें।

निर्गुण और सगुण भाव को सैद्धान्तिक रूप में प्रकट करने वाले संस्कृत-साहित्य में अनेक पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया गया है। जैसे ब्रह्म-सृष्टि, ब्रह्म-माया, ब्रह्म-प्रकृति, अध्यात्म-भौतिक, निर्विकार-सविकार, निराकार-साकार आदि। ब्रह्म उस आत्यन्तिक आन्तरिक स्थिति का नाम है जहाँ अहंरूपी सर्वप्रथम प्राकृतिक विकार भी सोया हुआ पड़ा रहता है। इसी को लयावस्था भी कहते हैं। इसी स्थिति में पूर्ण शान्ति की अनुभूति होती है। इस पूर्ण शान्तिमय स्थिति को उसकी निर्विकारता की दृष्टि से कहीं-कहीं 'शून्य' कहा गया है। परन्तु 'शून्य' कहने से गणित-शास्त्रीय अचेत (जड़) शून्य का बोध न हो उठे, इसलिए उसे 'चेतनामय शून्य' अथवा 'सबके परे सूक्ष्मातिसूक्ष्म सत्' कहा करते हैं, जैसा कि श्रीमद्भागवत में कहा गया है।

'यद् तद्ब्रह्म परं सूक्ष्ममशून्यं शून्य कल्पितम्'

अर्थात् जो यह ब्रह्म है वह सब के परे सूक्ष्मस्वरूप अशून्य है, यद्यपि उसके विषय में 'शून्य' की कल्पना की जाती है। इसी तरह गीता में बताया है कि जिस तरह नदियों के पानी के आ मिलने से जल से परिपूर्ण प्रतिष्ठित समुद्र अविचलित रहकर शान्ति को नहीं खोता उसी प्रकार प्रतिष्ठापूर्ण मनुष्य की शान्ति को कामनाएँ भंग नहीं कर सकतीं, और जो मनुष्य कामनाओं, ममता या अहंकार को त्याग कर आचरण करता है उसे ब्रह्म पद प्राप्त होता है (गीता २।७०, ७१, ७२)। यही बात महात्मा गांधी ने कही है कि अहंकार को खाक कर देने पर ही 'ज़ीरो' (Zero = शून्य) स्थिति आती है। यह अहंकार ही कर्त्ता बन सारी सृष्टि की रचना करता है। यदि यह सुषुप्त रहे तो सृष्टि का मूल कारण ही न रहे। इसी के जागृत होने पर सत-रज-तम प्राकृतिक त्रिगुण और मनादि तत्त्व अपने-अपने कार्य करने लगते हैं। इसीलिए यह कहा जाता है कि ब्राह्मी-स्थिति अर्थात् पूर्ण शान्ति वाली शून्य स्थिति सृष्टि के कारण के भी परे होती है। इसी स्थिति का नाम तुलसी ने 'राम' कहा है। इसी को तुलसी ने 'अशेष कारण परं रामा-

ख्यमीशं हरिम्' (रामाख्यं अर्थात् रामनाम वाला) कहकर मानस के प्रारम्भिक मंगलाचरण में वन्दना की है, और 'वैराग्य-संदीपिनी' में कहा है कि जब अहंकार की अग्नि से सन्त बच जाता है तब उसके हृदय में इस शान्ति रूप 'राम' की दोहाई फिर जाती है, जिसके फलस्वरूप कामादिक विकार भाग जाते हैं अर्थात् निष्काम भावना का उदय हो जाता है—

'अहंकार की अगिनि में, दहत सकल ससार।
तुलसी बाँचें सन्त जन, केवल सान्ति अधार' ।।५३।।
'फिरी दोहाई राम की, गे कामादिक भाजि।
तुलसी ज्यों रवि के उदय, तुरत जात तम लाजि' ।।६१।।

निष्काम भावना के उदय होने पर ही इस निर्गुण-ब्रह्म की समस्त जड़-चेतनमय, सगुण-साकार सृष्टि को सन्तजन एकात्म भाव से देख सकते हैं। तब उसे निर्गुण-सगुण में कोई भेद नहीं दीखता। इसीलिए हम देखते हैं कि तुलसी ने मानस में 'जड़ चेतन जग जीव जे, सकल राम मय जानि' तथा 'सियाराम मय सकल जग जानी' कहकर समस्त सृष्टि की अर्थात् सगुण रूप की वन्दना की है, और साथ ही यह भी दिखा दिया है कि 'अगुनहिं सगुनहिं नहीं कछु भेदा' अथवा 'अगुण सगुण दोउ ब्रह्म सरुपा।' तात्पर्य यह कि ज्ञान-मार्गियों के निर्गुण-निराकार भाव और कर्म-वादियों, प्रकृति-वादियों अथवा व्यवहार-वादियों के सगुण-साकार भाव में तुलसी ने अभेद भाव की स्थापना कर दी है। यों तो तुलसी के बहुत पहले से कई एक भक्ति-मार्गी पूर्वाचार्य इस अभेद को प्रकट करते आ रहे थे, परन्तु उसमें एक विशिष्टता लाने का श्रेय तुलसी को ही है। वह विशिष्टता लाई गई है राम-नाम के द्वारा। अद्वैत और द्वैतवादियों का जो मतभेद पूर्व काल से चला आता था और जिसमें सामंजस्य लाने के हेतु द्वैताद्वैत एवं विशिष्टा-द्वैत का जन्म हुआ उसी को सुलझाने अथवा ब्रह्म और माया या सत् और असत् का भेद-भाव मिटाने के लिये तुलसी ने एक नयी योजना प्रस्तुत की, जिसके द्वारा उन्होंने ब्रह्म कही जाने वाली निर्गुण स्थिति को 'राम' कहा और दूसरी

और सृष्टि अथवा माया कही जाने वाली सगुण स्थिति को भी 'राम' कहा है अर्थात् एक ही तीर से दोनों लक्ष्य बेध दिये हैं। इसीलिए उन्होंने मानस में कहा है —

"अगुण सगुण बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाखी॥"

अर्थात् जिस प्रकार जब एक देश का आदमी अपनी भाषा में दूसरे देश के आदमी से जो उसकी भाषा नहीं समझता, बात करता है तो किसी एक ऐसे चतुर आदमी की जरूरत पड़ती है जो दोनों भाषाओं का ज्ञाता हो, उसी प्रकार 'राम-नाम' एक ऐसा चतुर दुभाषी (expert interpreter) का काम करता है कि मानो वह निर्गुण और सगुण दोनों की बात समझता हो और यह समझा सकता हो कि प्रत्यक्ष भिन्नता-प्रतीति के बावजूद भी दोनों एक ही बात कह रहे हैं। यदि कोई कहे कि जब नामकरण की ही बात है तो हम भी कोई भी नाम रखकर कह सकते हैं, जिसमें निर्गुण-सगुण दोनों का बोध कराने का अभिप्राय हो, तो उसका उत्तर यह होना चाहिए कि तुलसी ने राम का नाम कोई ऊटपटाँग ही नहीं चुन लिया है। उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि इस नाम का निरूपण यत्नपूर्वक ही किया गया है, जिससे उसका स्मरण आते ही निर्गुण-सगुण दोनों स्थितियों का मूल्यांकन यथाविधि हो सकता है।

"नामनिरूपण नाम जतनतें। सो प्रगटत जिमि मोल रतनतें॥"

यह राम नाम वस्तुतः तुलसी की खोज नहीं है। यदि नयी खोज होती तो तुलसी का **"नाना पुराण निगमागम सम्मतं"** पद असत्य हो जाता। श्री कामिल बुल्के की 'रामकथा' के प्रथम अध्याय में, तथा माधवाचार्यकृत 'पुराण दिग्दर्शन' के पृष्ठ २६५ पर, आर्य संस्कृति के सबसे प्राचीन ग्रन्थ, वेदों में से दिये गये उद्धरणों से प्रकट होता है कि उस समय भी दशरथ, सीता और राम के नाम प्रसिद्ध थे। यदि यही मान लिया जाय, जैसा कि आधुनिक खोजकार कहते हैं कि दशरथ, रामचन्द्र, सीता आदि का जन्म वेद-काल के पीछे का है तो भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि वेदों में उक्त शब्दों का प्रयोग केवल भाव-प्रदर्शन के हेतु किया जाता रहा होगा, और फिर कालान्तर में उन्हीं

शब्दों का उपयोग व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के लिये होगा, जैसा कि आज भी स्थान, व्यक्ति आदि के नामकरण के समय किया जाता है। अतः उस दृष्टि से भी व्यक्तिवाचक 'राम' शब्द का प्रयोग कोई नया नहीं है। भाव की दृष्टि से वह रम् धातु का रूपान्तर है, जिसमें आनन्दमय 'रमण' का अर्थ निहित है। इसलिए 'राम' उस सत् (स्थिति या वास्तविकता) का द्योतक है जो आनन्दमय रमण करता हो। और यह अनासक्त-निर्लिप्त रमण-प्रदर्शक भाव निर्गुण और सगुण दोनों स्थितियों में ओतप्रोत रहता है। अतः दोनों को राम-नाम से संबोधन करना न केवल सार्थक है वरन् सांस्कृतिक भी है।

परन्तु हम मनुष्य हैं—मानव-समाज में रहकर हमें देहधारी के नाते नित्य प्रति प्राकृतिक गुणों के वशीभूत होकर कुछ न कुछ कर्म करना ही पड़ता है। इसलिए उपर्युक्त अन्तर्निहित रमणात्मक सत्ता के भाव-मात्र आने से हमारे जीवन में व्यावहारिक साधना तो आ नहीं सकती। सगुण संसार में पहाड़-पत्थर, लता-वृक्ष, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, आदि नाना भांति के पदार्थ रहते हैं। उनमें से कोई भी हमारे अनुकरण का विषय नहीं बन सकता, भले ही हम अपनी कल्पना और बुद्धि का प्रयोग कर किसी समय इन सगुणात्मक पदार्थों में से किसी एकाध का कोई एकाध गुण सीख लें। पर इससे होता ही क्या है ? नर तो नारायण के समान दो-दस गुणों का नहीं, अनेक गुणों का अधिकारी है (**नर-नारायण सरिस सुभ्राता**)। इसलिए हमें तो अपने मनुष्य वर्ग ही में से अपना अनुकरणीय आदर्श ढूँढ़ना पड़ता है—ऐसा आदर्श, जिसमें मनुष्योचित अधिक से अधिक गुण विद्यमान हों—ऐसा समाज-सेवी आदर्श, जिसकी कर्मशीलता में धर्म का पुट चढ़ा हो, अर्थात् जो अहंकार (अभिमान) रहित हो, और जो निष्काम भावना से समाज के कल्याणकारी कर्मों में लीन हो। ऐसे आदर्श पुरुषों को अपने पूर्वजों की भाषा में पूर्वकाल से हम अवतार कहते चले आ रहे हैं। हमारे 'अवतार' और दूसरे देशों के 'आदर्श पुरुषों' के भावार्थ में जो भेद है वह हम आगे बतावेंगे। यहाँ इतना ही कहना अभिप्रेत है कि यद्यपि पूर्ववर्णित अनादि-अनन्तकालीन निर्गुण राम अनन्त नाम और गुण धारण करता हुआ सगुणा-

त्मक रूप (राम अनन्त अनन्त गुण) होता चला आ रहा है तथा उसके नाना भांति के सगुणात्मक-अवतार (नाना भांति राम अवतारा) पूर्वकाल में हो चुके हैं, तथापि तुलसी ने हमारे सामने केवल एक दशरथ-पुत्र को ही आदर्श चुनकर रखा है। क्योंकि एक तो उन्हें पूर्वकालीन ग्रन्थों में उसके जीवन चरित्र में अन्यान्य अवतार (आदर्श) पुरुषों की अपेक्षा मानव-जीवन को उत्कृष्ट करनेवाली सबसे अधिक क्रान्तिमय व्यावहारिक उत्कृष्ट मर्यादाए मिलीं, जिसका स्पष्टीकरण आगे मिलेगा, और दूसरे उसका नाम भी वही 'राम' मिल गया, जिसमें लिप्तता का भाव न रहकर यथानाम तथा-गुण के अनुसार निर्लिप्त आनन्द अथवा रमण का भाव विद्यमान रहता है।

सारांश

सारांश यह हुआ कि तुलसी का राम एक होते हुए, त्रिभावात्मक है। एक भाव से वे अहंकार-शून्य निष्काम-भावना-युक्त शान्तिमय स्थिति का आह्वान करते हैं, तो दूसरे भाव से वे उक्त निष्काम-भावना-युक्त होकर समस्त जड़-चेतन-जगत् की सेवा करना चाहते हैं, और तीसरे भाव से वे दशरथ-पुत्र आदर्श-पुरुष राम के चरित्रों का अनुशीलन करने के लिए अभिलाषी रहते हैं। क्रम-विपरीति से दूसरे शब्दों में आदर्श-अनुकरण, लोक-सेवा तथा आत्म-शान्ति—यही तीन तुलसी की राम-आराधना के मूल-मंत्र हैं। इन तीनों में से किसी एक को ग्रहण कर लेने से दूसरे दो अनायास प्राप्त हो जाते हैं। इन्हीं तीनों में तुलसी का वह जीवन-सिद्धान्त निहित है कि जब नर का चरित्र नारायण जैसा हो तभी वह आभ्यन्तरिक शान्ति-रूप पर-लोक, और बाह्य-सेवारूप-इहलोक, दोनों को प्राप्त कर सकता है। तुलसी के इस त्रिविध राम से यदि हमारा ध्यान जरा भी उचटा तो निश्चय ही हम भ्रम-भँवर में पड़ उन्हें और उनके साहित्य को समझने में भूल करेंगे।

कहीं भ्रम न हो, इससे पाठक कृपया यह भी स्मरण रखें कि तुलसी ने 'राम' के स्थान में अभेद भाव से न केवल अन्य प्रचलित संज्ञाओं, जैसे

ईश, हरि, प्रभु आदि का ही प्रयोग किया है, वरन् रामचन्द्र रघुपति, रघुनाथ, रघुकुलनन्दन, रघुवर आदि शब्दों का प्रयोग भी उसी अर्थ में यत्र-तत्र किया है; उदाहरणार्थ—

कहहुँ राम गुन गाथ, भरद्वाज सादर सुनहु।
भव भंजन रघुनाथ, भजु तुलसी तजि मान मद॥[1]

अथवा

एकछत्र एक मुकुट मणि, सब बरणनि पर जोउ।
तुलसी रघुवर नाम के, वरण विराजत दोउ॥[2]

या

रामचन्द्र के भजन बिनु, जो चह पद निर्वाण।
ज्ञानवान अति सोपिनर, पशु बिन पूँछ विषाण॥[3]

अतः तुलसी ने राम और रघुनाथादि नामों का प्रयोग अभेद रूप से किया है। इसलिए यह निस्सन्देह है कि इन नामों में भी राम के समान पूर्वोक्त तीनों भावों का समावेश होना चाहिए। प्रत्यक्षतः हम तो यही समझते हैं कि अयोध्या के सूर्यवंशी प्रसिद्ध राजा के रघु के वंशज होने के कारण दशरथनन्दन राम को ही रघुराज, रघुनाथादि कहा जाता है। परन्तु जब हम 'रघु' शब्द के वर्णों के अर्थ पर विचार करते हैं तो हमें उसमें भी राम के समान व्यापकता का भाव प्रकट हो उठता है। 'रघु' में 'र', 'घ्' और 'उ' वर्ण हैं। 'र' का अर्थ 'अग्नि', 'घ' का अर्थ 'धूप', और 'उ' का अर्थ 'शिव' वा 'ब्रह्मा' हमें कोष में मिलता है।[4] इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'रघु' शौर्य-पराक्रम-प्रकाश आदि सगुणात्मक व्यापक भावों का अर्थवाची है। अतएव

---

१. मानस, बा० कां, १२४ (ख)
२. वही, २०
३. वही, उ०कां०,७८ (क); (सोपि = सः + अपि = वह भी)
४. चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा कृत 'शब्दार्थ-पारिजात' को देखिए।

यह सिद्ध हो जाता है कि जिस प्रकार रामनाम में सगुण व्यापकता का भाव निहित है उसी प्रकार 'रघु' नाम में भी है; और जब रघु नाम में सगुण व्यापकता है तो रघुवर, रघुराज, रघुनन्दन आदि नामों में उससे भी अधिक श्रेष्ठत्व होना चाहिए। इस तरह रघुवर आदि नामों में भी राम नाम के समान न केवल दशरथ-नन्दन का प्रत्युत व्यापक सगुणता तथा व्यापक निर्गुणता का भाव भरा है, और यही कारण है कि तुलसी ने उन्हें त्रिभावात्मक राम का पर्यायवाची माना है।

: २ :

सन्त और क्रान्ति

'सन्त' और 'क्रान्ति' में विरोधाभास

'सन्त की क्रान्ति' इन शब्दों की कान में भनक पड़ते ही यदि पाठक चौंक पड़ें तो कोई आश्चर्य नहीं। परिचित इतिहास और प्रत्यक्ष अवलोकन के आधार पर 'सन्त' और 'क्रान्तिकारी' इन दो संज्ञाओं में इतना विरोधाभास—इतना अनमेल प्रतीत होता है कि उनके समन्वय की बात करना मानो पृथ्वी और आकाश को एक करना है। कहाँ बेचारा वह सन्त जो दुनिया को प्रपञ्च समझ उससे भाग फटी-टूटी कुटिया में रहकर अथवा जंगलादि एकान्त स्थान में वास कर आत्म-मुक्ति के हेतु ईश्वर-चिन्तन में अपना समय व्यतीत करता है, और कहाँ वह वीर पुरुष जो ईश्वरादि की बात को दार्शनिकों की केवल गपोड़बाजी समझ दुनिया की यथार्थता में घुल मिलकर जनता के लिए आत्म-बलिदान करने को छटपटाता रहता है। एक ओर है सन्त, जो धर्म-ध्वजा की दुहाई देता है, और दूसरी ओर है क्रान्तिकारी जो कर्म-ध्वजा को ही फहराना अपने जीवन का परम लक्ष्य समझता है। यह उन रंगे स्यारों के लिए नहीं कही गई, जिनकी संख्या सन्तों और क्रान्तिकारियों में भी अधिकतर रहती है, पर वह कही गई है, उन लोगों के लिये जिनके सत्यापन्न पर कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। ठीक है, पर उनका यह सत्यापन्न यथार्थ सत्य नहीं रहता। वह उन्हीं की बुद्धि के अनुरूप केवल सत्याभास रहता है। यथार्थ में सत्य तो यह है कि 'धर्म ही कर्म है' अथवा 'कर्म ही धर्म है'। इसीलिए जो धर्म का नाम लेकर कर्म-स्थान से भागता है, वह सन्त कहाता हुआ भी सन्त नहीं, और जो कर्म की तूफानी उड़ान

भरता हुआ भी 'धर्म' से च्युत रहना चाहता है वह न तो कर्मयोगी कहलाने का अधिकारी है और न क्रान्तिकारी। इसलिए जो सच्चा क्रान्तिकारी है वही सच्चा सन्त होता है, और जो सच्चा सन्त है वही सच्चा क्रान्तिकारी होता है। यह सिद्ध करने के लिए पहले हम क्रान्ति के स्वरूप वा लक्षणों पर विचार करेंगे और फिर सन्त के लक्षणों पर। तत्पश्चात निष्कर्ष रूप से यह बतायेंगे कि सन्त ही क्रान्ति करने का अधिकारी हो सकता है।

समाज-सुधार के तीन भेद तथा क्रान्ति के दो रूप

समाज-सुधार की तीन परिपाटियां बताई जाती हैं। तीनों परिपाटी वालों का ध्यान भूत, वर्तमान और भविष्य पर रहता है। तीनों का वर्तमान से संघर्ष होता है, और तीनों वर्तमान का संशोधन कर समाज के भविष्य को उज्ज्वल और सुखी बनाने के पक्ष में रहते हैं। परन्तु विधियाँ तीनों की अलग-अलग रहती हैं। एक वर्ग में वे लोग हैं जो कहते हैं कि पूर्व व्यवस्था अच्छी थी। कालान्तर से उसमें जो खराबियाँ आ जाती हैं उनका संशोधन कर वे केवल पूर्व स्थिति की पुनःस्थापना कर पूर्ववत् सुख-साम्राज्य लाना चाहते हैं। इस वर्ग के लोगों को हमारी समझ में संशोधक (Reformers) कहना उपयुक्त है। दूसरे लोगों के मत के अनुसार पूर्व व्यवस्था की केवल पुनर्स्थापना करना पर्याप्त नहीं है। चूँकि समस्त सृष्टि की नाई मानव-समाज भी गति-रुद्ध (Static) नहीं, बल्कि गतिवान (Dynamic) है, इसलिए उसकी उन्नति के हेतु पूर्व-वर्तमान की सभी अच्छी व्यवस्थाओं को उन्नति-पथ पर ले चलते हुए आगे बढ़ते जाना चाहिए, और यह कार्य उसके मतानुसार शान्ति पूर्वक क्रम-क्रम से शनैः शनैः किया जाय जिससे उत्तरोत्तर दृढ़ता होती जाय। इस वर्ग के लोगों को विकास-वादी (Evolutionists) कहना उपयुक्त प्रतीत होता है। तीसरी परिपाटी वालों का कहना है कि जब हमें उन्नति-पथ पर अग्रसर होते ही जाना है तो यही क्यों न किया जाय कि हम कुछ ऐसी योजनाएँ बनावें कि हमारा भावी इष्ट शीघ्र से शीघ्र प्राप्त हो। ऐसा करने में यदि क्रम और शान्ति का

उल्लंघन करना पड़े तो हानि नहीं। तात्पर्य यह कि इनके मत से समाज की उन्नति की दृष्टि से व्यक्ति की अवहेलना की जा सकती है और हिंसा (Violence) का प्रयोग भी किया जा सकता है। इस वर्ग के लोगों को बहुधा 'क्रान्तिकारी' (Revolutionists) कहते हैं। उतावलापन ही इन लोगों का आधार रहता है। इस अधीरता का कारण रहता है, क्रोध और भय। वर्तमान व्यवस्था के अत्याचार जब असह्य हो जाते हैं तो वे क्रोधाग्नि में धधकने लगते हैं और इसलिए वे उस व्यवस्था का अन्त जल्दी से जल्दी कर अपने द्वारा योजित व्यवस्था की स्थापना कर देना चाहते हैं। क्रोध के अतिरिक्त यह भय भी रहता है कि कहीं ऐसा न हो कि उनकी नवीन व्यवस्था ही उखाड़ कर फेंक दी जाय। इसलिए उसकी रक्षा के हेतु वे अपने विरोधियों के प्रति अमानुषिक व्यवहार करने पर तुल जाते हैं। आधुनिक युग में क्रान्ति ने यह भयंकर स्वरूप सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में उस समय से धारण किया जब मध्यकालीन साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद के अत्याचारों से जनता का जीवन दुःखमय होने लगा

यह तो हुआ क्रान्ति का रुद्ररूप। परन्तु उसका एक रूप सौम्य भी है। इस वर्ग के लोग सौम्य वृत्ति के होते हैं। इसका इष्ट और विधि उपर्युक्त क्रान्तिकारियों के इष्ट और विधि से भिन्न होते हैं, यद्यपि वे भी यही चाहते हैं कि उनका इष्ट शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त हो जाय। सच पूछा जाय तो इष्ट दोनों का एक रहता है। यह है 'मानव-समाज-सुख'। पर इनके सुख की व्याख्या केवल दैहिक और मानसिक सुख-से सीमित नहीं रहती जैसी पूर्वोक्त रौद्र क्रान्तिकारियों की रहती है। वे चाहते हैं कि अध्यात्म सुख भी हो। अभिप्राय यह कि उक्त क्रान्तिवादी केवल भौतिक सुख (Materialistic-happiness) पर लक्ष्य रखते हैं, परन्तु इनका लक्ष्य रहता है, भौतिक सुख के साथ ही साथ आत्म सुख (Spiritual bliss) भी। इनके साधन भी उनसे भिन्न होते हैं। यों तो वर्तमान से संघर्ष इन्हें भी करना ही पड़ता है क्योंकि बिना संघर्ष के विकास होता ही नहीं, तथापि संयमी होने के कारण उनका संघर्ष क्रोध पर आधारित नहीं होता. क्योंकि क्रोध मनुष्य

को आधा पागल बना देता है जिससे विनाश के अतिरिक्त कुछ हाथ नहीं लगता। भय भी उन्हें नहीं रहता क्योंकि उनकी नवयोजना की आन्तरिक गुरुता ही उनका बल होता हैं। वे जानते हैं कि यदि उनकी नवीन योजना ठोस मूल्यवान है तो उसका स्वागत अपने आप अवश्य होता जायगा, भले ही प्रारम्भ में कुछ स्वार्थी और मूर्ख लोग उसका विरोध करें। वे यह भी जानते हैं कि कोई भी मनुष्य पूर्णज्ञानी होने का दावा नही कर सकता। इसलिए उनका यह भी कहना रहता है कि यदि उनकी नव निर्मित योजनाओं में कोई त्रुटि हो, और जन-मत उसे अपने बुद्धि-बल से सुधार ले तो कोई हानि नही, प्रत्युत लाभ ही होगा। यह क्रान्ति 'अहिंसात्मक क्रान्ति' के नाम से विख्यात है, क्योंकि इसके जन्मदाता गांधी जी अहिंसा के अद्वितीय पुजारी थे। इसका जन्म बीसवीं शताब्दी कहा जाता है। इसकी उत्पत्ति के बाद पूर्व में कथित क्रान्ति 'हिंसात्मक क्रान्ति' कही जाने लगी है।

अहिंसात्मक क्रान्तिकारी गांधी की विचार-धारा

गांधी जी की समस्त योजना सत् और अहिंसा पर अवलम्बित है। वे ईश्वरीय शक्ति के अनन्य भक्त थे, और धर्म को ही उन्होंने अपना मूल-क्षेत्र कहा है। शेष अन्य कार्य-क्षेत्र जैसे राजनीति, साहित्य, समाजादि उसी धर्म क्षेत्र के अन्तर्गत आ जाते हैं। वे 'सत्' को सर्वोपरि कहते हैं। यह वही सत् है जो संस्कृत साहित्य में ब्रह्म नाम से जाना गया है और जिसको तुलसी ने 'राम' के नाम से कहा है। अहिंसा इसी सत् की दूसरी बाजू है, ऐसा कहकर गांधी जी ने समझाया है ? उनका कहना है कि सत् ही अहिंसा है। सारांश यह कि अहिंसा को व्यवहृत किये बिना सत् की जिसे लोग सत्य (Truth) भी कहते हैं, अनुभूति नहीं हो सकती। उनका कथन है कि "सर्वव्याप्त विश्व-स्थित सत्यात्मा अथवा सत्यनारायण का साक्षात्कार करने के हेतु मनुष्य में सृष्टि के अल्पातिअल्प प्राणी मात्र के प्रति अपने ही समान प्रेम करने की क्षमता होनी चाहिए। और ऐसा मनुष्य जो इसका

लालायित हो, जीवन के किसी भी क्षेत्र से अपने आपको वंचित नहीं रख सकता। यही कारण है कि सत्योपासना ने मुझे राजनैतिक क्षेत्र में घसीट लिया है, और मैं बिना किसी संकोच के पूर्ण नम्रतापूर्वक यह कहने को तैयार हूँ कि जो यह कहते हैं कि धर्म (Religion) का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं वे यह जानते ही नहीं कि धर्म क्या चीज है।...... मुझे पृथ्वी के नाशवान राज्य की कोई लालसा नहीं, मैं तो स्वर्गीय राज्य के लिए प्रयत्न कर रहा हूँ। और वह स्वर्गीय राज्य है आत्म-मुक्ति। इस आत्म-मुक्ति की प्राप्ति के हेतु मेरे लिए एकमात्र मार्ग यह खुला हुआ है कि मैं अपने देश की तथा जन समाज की अटूट सेवा करता जाऊं......मैं प्रत्येक वस्तु में जो जीवित है, अभिन्न सम्बन्ध स्थापित कर एकमय बनना चाहता हूँ। गीता के शब्दों में मैं मित्र और शत्रु दोनों के साथ शान्ति पूर्वक रहना चाहता हूँ। इसलिए मेरी देश-भक्ति मेरे लिये मेरी उस यात्रा की एक मंजिल है जो मैं उस स्थान के लिये कर रहा हूँ, जहाँ शाश्वत मुक्ति और शान्ति मिलती है।"[1] यों तो गांधी जी अपने आप को सनातनी हिन्दू ही कहते थे, और उनका वेद-उपनिषद्-पुराणादि हिन्दू धर्म शास्त्रों में, वैदिक अर्थ वाले वर्णाश्रम धर्म में, गौ-संरक्षण में तथा मूर्ति पूजा में विश्वास था,[2] तथापि उन्होंने यह स्पष्ट कह दिया है कि "यथार्थतः धर्म और धर्ममत (Creed) में भेद होता है।" धर्म तो सवधर्म-व्यवस्थाओं का आधार होकर उन्हें ठीक उसी प्रकार धारण करने वाला होता है जैसे वह संसार की अन्य वस्तुओं या व्यवस्थाओं को धारण करता है, जैसा कि महाभारत के कर्ण पर्व में कृष्ण द्वारा की गई धर्म की निम्न व्याख्या से विदित होता है।

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजा।
यत्स्याद्धारण सयुक्तं सधर्म इति निश्चयः॥

---

१. देखो 'Mahatma Gandhi' edited by Radhakrishnan पृ० १४ पर दिया हुआ उद्धरण—

२. देखो Young India, Oct. 6 of 1921 A. D.

अर्थात् धारण करनेवाला होने से 'धर्म' कहाता है, 'धर्म' ही प्रजा (सृष्टि) को धारण करता है, जो धारण शक्ति से संयुक्त हो वही निश्चय पूर्वक 'धर्म' है। (धर्म 'धृ' धातु का रूपान्तर है, जिस 'धृ' का अर्थ होता है 'धारण करना'।)

इससे स्पष्ट है कि मूल-धर्म-अनवच्छिन्न और व्यापक है और भिन्न-भिन्न धर्म-व्यवस्थाएँ या धर्म-मत अवच्छिन्न और सीमित होते हैं। फिर क्या कारण है कि गांधी जी सनातनी हिन्दू-धर्मावलम्बी ही कहलाना पसन्द करते थे? क्या कारण है कि उन्होंने यहाँ तक कहा कि "मैं हिन्दू धर्म को अपने जीवन से भी अधिक प्रेम करता हूँ।"[३] इसीलिए कि केवल उसी के धर्म-शास्त्रों और व्यवस्थाओं की यथार्थता के अनुकूल बर्तने से हर हिन्दू को आत्म-मुक्ति प्राप्त हो सकती है। गान्धी जी कहते थे कि "हिन्दू-धर्म संकीर्ण धर्म नहीं। उसमें संसार के सभी पैगम्बरों-महात्माओं की पूजा के लिये गुंजाइश है। वह प्रचारकारी (Missionary) धर्म नहीं है जैसा कि लोग साधारणतया उस शब्द का अर्थ समझा करते हैं।.....हिन्दू धर्म का यह आदेश है कि हर एक अपनी श्रद्धा या धर्म के अनुसार ईश्वरार्चन किया करे, और इसी कारण से वह समस्त धर्मों के साथ शान्ति पूर्वक रहता है।"[४] गांधी जी ने जो यह कहा है कि हर एक अपनी श्रद्धा और धर्म के अनुसार ईश्वरार्चन किया करे, वह हिन्दू-संस्कृति अथवा हिन्दू धर्मशास्त्रों के आधार पर ही कहा है।

तुलसी-गांधी की समता

अब देखिए तुलसी की विचार-धारा को। तुलसी सनातन धर्मी थे, और वर्णाश्रम आदि सभी व्यवस्थाओं तथा धर्म-शास्त्रों में उनका विश्वास था। गांधी जी ने यदि इस सम्बन्ध में 'यंग इंडिया' में लेख लिखकर

---

३. वही
४. वही

लोगों का भ्रम मिटाया तो तुलसी ने मानस की सारी इमारत ही उसी पर खड़ी की है। गांधी ने यदि यह कहा कि मूल धर्म सब धर्म मतों का आधार स्वरूप होकर सर्वव्यापक है, तो तुलसी ने मानस के अरण्यकाण्ड की प्रारम्भिक वन्दना में 'मूलं धर्म तरोः' अर्थात् धर्म रूपी वृक्ष की जड़ कहकर वही भाव व्यक्त किया है। गांधी ने इस मूल रूप सर्वव्यापक सत्यात्मा अथवा सत्य नारायण का साक्षात्कार करने के लिये प्राणी मात्र के प्रति अपने ही समान प्रेम करने तथा अभिन्न सम्बन्ध स्थापित कर एकमय बन जाने की बात कही, तो वही बात तुलसी के 'जड़ चेतन जग जीव जे, सकल राम मय जानि', में निहित है। गांधी ने यदि समाज की अटूट सेवा करने के लिये कहा है तो तुलसी ने उसी राम रूप सकल जगत् की सेवा करने के लिये 'सेवक सेव्यभाव बिनु, भव न तरिय उरगारि'[५] कहकर आग्रह किया है। गांधी यदि यह कहते है कि मै मित्र और शत्रु दोनों के साथ शान्ति पूर्वक रहना चाहता हूँ तो तुलसी के निम्न कथनों में भी वही भाव ओत-प्रोत है—

"सत्रुन काहू करि गनै, मित्र गनै नहिं काहि।
तुलसी यह मत संत को, बोले समता माहिं" ॥[६]
"राग द्वेष की अगिनि बुझानी, काम क्रोध वासना नसानी।
तुलसी जबहिं सांति गृह आई, तब उर ही उर फिरी दोहाई ॥"[७]
"त्याग को भूषण शान्ति पद, तुलसी अमान अदाग" ॥[८]

गांधी जी ने यदि यह कहकर कि 'हर एक अपनी श्रद्धा और धर्म के अनुसार ईश्वरार्चन किया करे', श्रद्धा और आत्म-विश्वास पर जोर दिया है तो तुलसी ने भी कई बार उनका महत्त्व बताया है।

---

५. मानस, उ० कांड, ११९
६. वैराग्य संदीपिनी १३
७. ,, वही ६०
८. ,, ४४

'जे श्रद्धा संबल रहित, नहिं सन्तन कर साथ।
तिन्ह कहुँ मानस अगम अति, जिन्हहिं न प्रिय रघुनाथ ॥'[९]

तथा 'वट विश्वास अचल निज धर्मा' ॥[१०]

इतना ही नहीं उन्होंने बालकांड की प्रारम्भिक वन्दना ही में यह बता दिया है कि श्रद्धा और विश्वास के बिना सिद्ध लोग भी यह नहीं जान पाते कि अन्तर्स्थित ईश्वर क्या होता है।[११] इसी अन्तर्स्थिति का नाम है 'आत्मानुभव' या गांधी के शब्दों में 'सत्यानुभव' अथवा 'अहिंसात्व'। यदि गांधी ने यह कहा है कि अहिंसा का अर्थ है 'सम्पूर्ण निरंहकारत्व' (Uttermost Selflessness) अर्थात् दैहिक ममता से 'पूर्ण-मुक्ति'-यदि गांधी ने यह कहा है कि "यदि मनुष्य आत्मानुभव अर्थात् सत्यानुभव करना चाहता है तो वह तभी हो सकता है जब वह अपने शरीर से पूर्णतः अनासक्त हो जाय अर्थात् समस्त अन्य प्राणी उससे अपने आप सुरक्षित मानने लग जायं"[१२] तो तुलसी ने भी वही बात कही है—

"अहंवाद 'मंतैं' नहीं, दुष्ट संग नहिं कोइ ॥
दुखते दुख नहीं ऊपजै, सुख ते सुख नहिं होइ ॥"[१३]
'मंतैं' मेटयो मोह तम, उगो आतम भानु ॥[१४]

(ब) आचार-समता

सारांश यह है कि गांधी जी और तुलसी के सिद्धान्तों में कोई भेद नहीं है; और इसका मूलकारण यह है कि दोनों के सिद्धान्तों का आधार एक ही

---

९. मानस, बा० कां० ३८
१०. मानस, बा० कां० १।११
११. मानस बा० का० श्लोक २
१२. Young India, Dated 4-11-1926
१३. वैराग्य संदीपिनी ३०
१४. ,, ,, ३३

है जिसे आर्य-संस्कृति कहा जाय या हिन्दू धर्म-शास्त्र। उनके आचारों में भी हमें मूलतः समता मिलती है। जहाँ कहीं असमता की प्रतीति होती है वह केवल इसलिए कि तुलसी गांधी के लगभग ३५० वर्ष पूर्व उस समय हुए थे जब कि देश तथा संसार की परिस्थितियाँ गांधीकालीन परिस्थितियों से बिलकुल भिन्न थीं। अन्तर्दृष्टि से देखिए तो दोनों के बर्ताव में एकात्मीयता तथा त्याग का प्रतिबिम्ब मिलता है। गांधी यदि पत्नी-पुत्र जाति-कुल आदि का मोह छोड़ आश्रमों में या हरिजनों के बीच झोपड़ों में रहे तो तुलसी भी "सुतदार अगार सखा परिवार-सबकी ममता तजि कै"[१५] रहे। गांधी यदि केवल दो-तीन हाथ की लंगोटी लँगाकर अर्द्ध-नंगा फकीर कहे जाते रहे तो तुलसी केवल 'मलीन कथरी या 'करवाधरकर'[१६] तथा 'माँगि कै खैबो वा मसीद (मसजिद) में सोकर',[१७] गुजर-बसर करने वाले एवं 'नीच निरादर्-भाजन कादर, कूकर-टूकन के लिये लिलात फिरने वाले'[१८] कहलाए। यथार्थ बात यही है कि दोनों का जन-प्रेम और त्याग इतना जबरदस्त था कि तुलसी के शब्दों में दोनों को न किसी से कुछ लेने को था और न किसी को देने को (लेबै को एक न देबै को दोऊ),[१९] क्योंकि जब अहंवाद अर्थात् मैं-तैं मिटकर एक ही रह पावे तो देना-लेना शब्दों का अस्तित्व ही नहीं रह पाता।

तुलसी द्वारा सन्त-लक्षणों का निरूपण

जब कोई एकात्मीयता का सच्चा अनुपालक हो जाता है तभी वह आर्य-संस्कृति की दृष्टि से साधु या सन्त कहलाने का अधिकारी होता है। तुलसी

---

१५. कवितावली	३०
१६. कवितावली	५६ (करवा=पानी पीने के लिये मिट्टी का बर्तन)
१७. कवितावली	१०६
१८. ,, ,,	५७
१९. ,, ,,	१०६

दास जी ने सन्तों के स्वभाव वा लक्षणों के विषय में रामचरित मानस के बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड में बहुत कुछ कहा है। उन्होंने उसी विषय में एक बहुत छोटी-सी "वैराग्य संदीपिनी" नाम की पुस्तक भी लिखी है जिस का महत्त्व उन्होंने इस दोहा में प्रकट किया है।

'तुलसी वेद-पुरान-मत, पूरन शास्त्र विचार।
यह बिराग-संदीपिनी, अखिल ज्ञान को सार॥'[२०]

इसलिए यदि तुलसी के विचार-आचार जानना हो तो हर एक को सर्वप्रथम तुलसी के द्वारा वर्णित सन्त-स्वभाव अथवा संत-लक्षणों पर गंभीरता पूर्वक विचार करना चाहिए। यदि हम तुलसी के कथनों का उद्धरण देकर उन्हें सम्यक रूप में बताना चाहें तो विस्तार अधिक बढ़ जावेगा तथापि उन सबों को देखकर केवल एक निष्कर्ष यही निकलता है कि सन्त हर प्राणी हर मानव को अपनी ही आत्मा समझता है, जिसके फलस्वरूप न वह किसी को हानि पहुँचाता और न कोई उसको हानि पहुँचा सकता—कोई किसी का अनिष्ट नहीं कर सकता जैसा कि गीता एवं उपनिषदादि में कहा गया है।[२१]

एकात्मीयता के कारण सन्त में समता और सरलता अपने-आप आ जाती है। समता उसकी इस बात में रहती है कि न तो उसके चित्त में किसी के हित से मतलब रहता है और न किसी के अनहित से—उसके सम्पर्क में कोई भी आया कि उसे समान लाभ प्राप्त हो जाता है जैसा कि तुलसी ने नीचे के दोहे में फूल का दृष्टान्त देकर बताया है कि चाहे दायें हाथ की हथेली उसके सम्पर्क में हो जाय चाहे बायें हाथ की हथेली, दोनों में अभेद रूप से सुगन्ध आ जाती है। दायें-बायें 'कर दोइ' का महत्त्व यही है कि चाहे सीधा-सरल आदमी भी सन्त के सम्पर्क में आये या चाहे खोटा, दोनों को लाभ होता है।

---

२०. वैराग्य संदीपिनी ७

२१. देखो ईशा उपनिषद् मन्त्र ६-७ और गीता ६/३०

'बन्दौं संत समान चित, हित अनहित नहिं कोइ।
अंजलि गति शुभसुमन जिमि, सम सुगंधकर दोइ॥'[२२]

सरलता उसकी वाणी रहन-सहन आदि सभी में दिखाई देती है जैसे 'संत सरल चित जगत हित, जानि सुभाव सनेहु'[२३] तथा

'सकल बरन भाषा सरल, सरल अर्थ सम मानि।
तुलसी सहजै संतजन, ताहि यही पहिचानि॥'[२४]

'सरलता' और 'स्वभाव' कहने में 'सहजपन' का भाव निहित है। जो काम बिना प्रयास-प्रयोजन आदि के होता जाय वही 'सहज' कहाता है जैसे सूर्य से प्रकाश होता रहता यह सूर्य का सहज काम, सहज धर्म या सहज गुण है। इसी को सूर्य का 'सहज-स्वभाव' अथवा केवल 'स्वभाव' (स्व = अपने आप; भाव = होना) कहते हैं। इसी तरह जहां सन्त होगा वहां अपने आप जगत के प्रति 'स्नेह' तथा उस स्नेह के कारण जगत् का 'हित' हुए बिना रह ही नहीं सकता, क्योंकि स्नेह और हित ये दोनों उसके स्वाभाविक या सहज धर्म हैं। संत के कर्मों में सरलता रहती है इसलिए तुलसी ने वैराग्य संदीपिनी के उक्त दोहों में उदाहरण स्वरूप उसके दो-चार सहज गुणों को बताने के बाद निष्कर्ष रूप से यही कह दिया कि 'सन्त ही सरल' अथवा 'सरल ही सन्त' होता है। जिस प्रकार सूर्य के आन्तरिक स्वाभाविक तेज का प्रकाश और उष्णता के रूप में प्रकट होना अनिवार्य है, उसी प्रकार सन्त का यह सहज स्वाभाविक 'स्नेह' का दया, विनम्रता, अहिंसा आदि के रूप में बह उठना रोका नहीं जा सकता। तुलसी ने सन्तों के सम्बन्ध में अहिंसात्मक पराकाष्ठा का एक विशद् चित्र कुछ सारगर्भित दृष्टान्तों द्वारा इन चौपाइयों में खींच कर रख दिया है —

---

२२. मानस, बा० कां० ३ (क)
२३. मानस, बा० कां० ३ (ख)
२४. वैराग्य संदीपिनी ८

"साधु चरित सुभ सरिस कपासू। निरस बिसद गुणमय फल जासू ।।
जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा। बन्दनीय जेहि जग जस पावा" ।।[२५]
'सन्त असंतन्हिकै अस करनी। जिमि कुठार चन्दन आचरनी।
काटइ परसु मलय सुनुभाई। निज गुन देइ सुगंधि बसाई ।।'[२६]

अहिंसा का पुजारी अपने गुणों की श्रेष्ठता से दूसरों के दुर्गुणों को इस तरह दूर कर देना चाहता है जिस प्रकार सुगंधित फूल या इत्र की महक से मल युक्त स्थान भी दुर्गन्ध रहित हो जाता है। यदि पराये दुर्गुण बने रहे तो वह अपने गुणों की ही कमी समझता है। इसलिए गांधी जी आदि अहिंसा के भक्तों का यह सिद्धान्त रहता है, कि दूसरों को सद्गुणी बनाने के हेतु उन्हें डाँट-डपट करने या मारने की अपेक्षा स्वयं ही अपने आप को यहाँ तक कसते जाओ कि स्वकीय प्राणान्त भी हो जाय तो कोई हानि नहीं। यही आचरण साधु-सन्तों का होता है। इसी आचरण के दो दृष्टान्त तुलसी की उक्त चौपाइयों में मिलते है। दोनों में उन्होंने बताया है कि अपने प्रति दुर्व्यवहार करने वाले खल या दुष्टों के प्रति भी सन्त अपने स्वाभाविक स्नेह के कारण ऐसा स्नेह बरतता है कि जिससे उन्हें लाभ ही हो हानि या कष्ट न पहुँचने पावे।

अनासक्त-कर्म तथा शुद्ध-साधनाओं का महत्व

इसलिए सन्त-वाणी तथा सन्त-आचार दोनों पर विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि सन्त ही सच्चा कर्म-योगी होता है। इसके विपरीत जो लोग यह समझते है कि सन्त का दुनिया के व्यावहारिक जीवन सम्बन्धी कर्मों से कोई सम्बन्ध नहीं वे मूर्ख है। जीवनोपयोगी सांसारिक कर्म करना तो सभी के लिये आवश्यक है। और ये किस प्रकार से किये जावें इस विषय में तुलसी ने स्वयं मानस में तथा अन्यत्र कई बार 'मन-वचन-कर्म' पर जोर

---

२५. मानस, बा० कां०, १।५-६
२६. मानस उ० कां०, ३६।७-८

दिया है। ये तीनों शब्द हमारे धर्म-शास्त्रों में इस तरह प्रयुक्त हुए हैं कि हम उन्हें तुरन्त कह तो जाते हैं पर उनके महत्त्व पर एक पल भी ध्यान नहीं देते। इसी प्रकार चार फल 'धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष', चार त्याग 'तन-मन-धन-धाम', चार वैरी 'काम,क्रोध, मद, लोभ', तीन गुण 'सत, रज, तम' अथवा त्रिदेव 'ब्रह्मा, विष्णु, महेश' आदि शब्दों पर भी मनन नहीं करते। तुलसी ने 'मन-वच-कर्म' कहकर यही दर्शाया है कि कर्म प्रधान है—हर मनुष्य को कर्म अवश्य करना चाहिए और वह कर्म दिखावटी न हो। जो बात मन में हो, वही जैसी की तैसी कही जाय और ठीक उसी के अनुरूप कर्म किया जाय। गांधी आदि दूसरे महापुरुष भी इसी बात को यह कहकर दर्शाया करते हैं कि विचार (Thought) शब्द (Word) एवं कर्म (Deed) में समता हो। यदि इनमें असमता हुई तो कर्ता तथा समाज दोनों के लिये वह अहितकर अथवा अकल्याणकारी होता है। इस सम्बन्ध में तुलसी के ये दोहे पठनीय हैं:—

"सूधे मन, सूधे वचन, सूधी सब करतूति।
तुलसी सूधी सकल बिधि रघुबर प्रेम-प्रसूति॥
बेष-बिसद बोलनि मधुर, मनकटु करम मलीन।
तुलसी राम न पाइये, भए विषय-जल-मीन॥
वचन-बेष तें जो बनै, सो बिगरै परिनाम।
तुलसी मन तें जो बनें, बनी बनाई राम॥"[२७]

इन्हें पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि तुलसी ने हर मनुष्य की पांच गतियों पर विचार किया है—(१) हृदय गति, (२) मन या बुद्धि, (३) वाणी या वचन, (४) वेष और (५) कर्म। हृदय भाव का उद्‌गम स्थान है। वहाँ से प्रकट होकर वह भाव नदी की धार जैसा क्रमशः मन, वाणी, वेष को पार करता हुआ कर्म-रूप में प्रकट होता है। जिस प्रकार निर्झर से निकले हुए सूक्ष्म-निर्मल जल कण अटूट-क्रम से विविध प्रकार के विकारों में से बहते

२७. दोहावली १५२, १५३, १५४

हुए स्थूल नदी रूप में दिखाई देने लगते हैं, उसी प्रकार हृदय में उत्पन्न सूक्ष्मातिसूक्ष्म-भाव अनेक प्रकार के आन्तरिक और बाह्य तथा वैयक्तिक और सामाजिक भले-बुरे गुणों से क्रमशः प्रभावित होते हुए अन्त में कर्म के रूप में दिखाई देते हैं। तात्पर्य यह कि यदि पवित्र से पवित्र भाव भी 'ईर्षा, द्वेष, मोह, लोभ, क्रोध, ममत्व' आदि विकारों से प्रभावित हुआ तो उसका अन्तिमरूप कर्म भी भयंकर और विनाशकारी बन जाता है। इसीलिए तुलसी ने सर्वप्रथम यह बताया है कि हृदय में रघुवर (अथवा प्रथम अध्याय में कहे हुए त्रिभावात्मक राम) के प्रति प्रेम हो। परन्तु संसार में केवल उत्तम भाव के आ जाने से काम नही चलता। उत्तम भाव के आने पर भी यदि 'मन कटु' और 'कर्म मलीन' हुए तो सब व्यर्थ ही है, क्योंकि उनके रहते हुए न तो सगुण-जगत्-रूप राम के सेवक हो सकते हैं, न निर्गुण राम को ही पा सकते हैं। इसलिए रघुवर प्रेम से उत्पन्न मन-वचन-कर्म के सूधेपन पर जोर दिया गया है। इतना ही नही, बल्कि इसी जगतरूप रघुवर के प्रेमी की कर्म-विधियाँ भी सीधी-सच्ची होनी चाहिए। इससे सिद्ध होता है कि तुलसी भी गांधी के समान पश्चिमी विद्वानों के उस निदान को नहीं मानते थे जिसके अनुसार कहा जाता है 'परिणाम भला तो साधन भी भला' (End justifies the means)। इस सिद्धान्त का थोथापन बताते हुए जिस प्रकार गांधी जी ने उसके स्थान में यह एक नव-सिद्धान्त 'साधन भला तो परिणाम भला' (Means justify the end) प्रसिद्ध किया, उसी प्रकार तुलसी ने 'तुलसी सूधी सकल विधि' कहकर संसार की दृष्टि साधनों अथवा विधि के महत्त्व की ओर विशिष्ट रूप से आकर्षित किया। वह विधि ऐसी चाहते थे जिसमें छल-छिद्र अथवा कपट-पाखंड न हो, बल्कि जो सूधी अर्थात् सीधी-सच्ची हो। परन्तु इससे भी अधिक महत्त्व तो इस बात में है कि तुलसी ने अपनी उपर्युक्त अंतिम पंक्ति 'तुलसी मन तें जो बनै, बनी बनाई राम' में भर दिया है जिसका अर्थ संगति (Contect) पर ध्यान रखते हुए यह है कि यदि मन में रघुवर प्रेम (जगत-प्रेम) हो तो सब कुछ अर्थात् बेष, बचन, कर्म तथा कर्म-विधि सब अपने-आप

बन आते हैं, जैसे कहा है 'एकहि साधे सब सधे'; और यदि इसमें कुछ कहीं त्रुटियाँ आ भी जायं तो भी कर्ता को उसका कोई पाप या अपराध नहीं भोगना पड़ता क्योंकि पाप या अपराध मन की कुगति अथवा मन के कुभाव पर निर्भर रहता है। अथवा यह कहिए कि तुलसी ने उक्त पंक्ति के द्वारा यह बताया है कि कर्म-तत्त्व में भाव की प्रधानता रहती है, न कि फल की। फल तो रामाधीन रहता है अर्थात् भविष्य के गाल में रहने से कोई कुछ नहीं कह सकता कि क्या-कैसा फल होगा। इसलिए तुलसी का कहना है कि भाइयो! राम रूप जगत के हेतु कर्म भावना आने पर सीधी-सच्ची, विधियों से कर्म भर करते जाओ और फल राम पर छोड़ दो, तो समझ लो सब बन गया (बनी बनाई राम)। जैसा कि गीता में कहा है—'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्' अर्थात् तेरा अधिकार केवल कर्म करने पर है न कि फल पर।

गीता का यह महावाक्य, जैसा कि बहुधा देखा जाता है, कुछ उन आसुरी वृत्ति वाले लोगों के आँसुओं को पोंछने के लिए नहीं कहा गया जो अपने निकम्मेपन अथवा अत्याचार के कारण अफल होने पर रोते हैं। उनके लिये तो प्रायश्चित्त या सोचने का ही विधान है, ताकि वे अफल बनाने वाली अपनी त्रुटियों का भावी-कार्य-सम्पादन के हेतु संशोधन कर लें, जैसा कि बाइबिल में कथित आदेश 'पश्चाताप करो और तुम्हें स्वर्गीय राज्य प्राप्त होगा' (Repent and thou shalt get the kingdom of heaven) का भी आशय है। तुलसीदास ने भी दशरथ-मृत्यु के प्रसंग में वशिष्ठ-भरत-सम्वाद के बहाने 'सोचिय गृही जो मोह बस, करइ करम पथ त्याग' आदि कहकर कर्म-च्युत लोगों की शोचनीय दशा पर अपने ढंग से प्रकाश डाला है, जिसका अभिप्राय यही है कि इस प्रकार के कर्महीनों अथवा कर्म में अकुशल लोगों को पश्चात्ताप कर अपना संशोधन करना चाहिए।[२८] इसी समय वशिष्ठ जी ने भरत को 'सुनहु भरत भावी प्रबल'

---

२८. मानस, अ० का०, १७१।३ से १७२।४ तक

और 'यश अपयश विधि हाथ' कहकर यह बताया कि भविष्य का पूर्णतः ज्ञाता सिवाय 'विधि' के कोई नही हो सकता,[29] चाहे वह दशरथ जैसा 'धर्म वृत सत्य' का पालने वाला; 'प्रेम निबाहने' वाला अथवा अपनी सुनीति और कर्मपरायणता के कारण 'भुवन चारि दश प्रकट प्रभाऊ' वाला ही क्यों न हो।[30] यही 'विधि हाथ' वाली बात गीता के उक्त श्लोक में कथित 'मा फलेषु कदाचन्' में निहित है। दैवी सम्पदाओं के नाम गिनाते-गिनाते कृष्ण कहते हैं पांडव ! जब तू दैवी सम्पदाओं से युक्त है तो तुझे सोच करने की जरूरत ही क्या है ? (मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पांडव)।[31] तू तो दिव्य गुणों से युक्त होने के कारण कर्म करने का सच्चा अधिकारी है ही। इसलिए कर्म तो तू कर, पर फल के विषय में सोच-विचार मत कर क्योंकि यह तेरे हाथ की बात नही है। यदि तूने उसमें अपना मन उलझाया तो कर्म हीन बन जायगा। सारांश यह कि गीता का उक्त अमर वचन कर्म-अधिकारियों अथवा कर्म-योगियों में कर्म-फल के प्रति उदासीनता लाने के लिये है न कि असफलों के आँसू पोंछने के लिये।

धर्म और कर्म में अभेद

जिन्हे हिन्दुओं की सनातन तत्त्व विद्या का कुछ भी ज्ञान है वे सहज ही कह सकते है कि वह 'एकोऽहं द्वितीयोनास्ति' पर आधारित है। इसलिए हिन्दू धर्मशास्त्रो में धर्म और कर्म में अभिन्नता का बोध कराया गयां है। उनमें धर्म के बिना कर्म का कोई अस्तित्व नही माना गया है और न कर्म के बिना धर्म का। मानवता के परीक्षण के लिये हमारी कसौटी सनातन से यही चली आती है। यह कसौटी उन लोगों की उस कसौटी से बिलकुल भिन्न है, जो धर्म को कर्म से अलग मानते हैं। इसका परिणाम हमें इतिहास

---

२९. मानस, अ० कां०, १७१

३०. मानस, अ० कां०, १७०।६ ; १७२।५

३१. गीता, १६।५

बताता है कि एक ओर तो धर्म परिवर्तन के हेतु बल और प्रलोभन का प्रयोग होता है, और दूसरी ओर कर्मवीरता की डींग हांकने वालों के द्वारा महा-घातक रक्त-प्रवाह तथा सम्पत्ति-हरण आदि राक्षसी कार्यों की भरमार दिखाई देती है।

सन्त और कर्मयोगी (क्रान्तिकारी) में अभिन्नता

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से अब आपको विदित हुआ होगा कि हमारे इतिहास में उन्हीं लोगों को कर्मयोगी कहा गया है, जो धर्म-रक्षक थे और उन्हीं को धर्म-रक्षक कहा गया है जो कर्मयोगी थे। ऐसे दृष्टान्त सहस्रों मिलते हैं जैसे श्रीकृष्ण, महात्मा गौतम बुद्ध आदि। परन्तु हमने इस अध्याय में केवल महात्मा गांधी का ही दृष्टान्त देकर अपने विषय को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करना लाभदायक समझा है; क्योंकि उनका जीवन-वृत्तान्त हमारे मस्तिष्क में अभी जीवित है। गांधी जी को लोक ने महात्मा की उपाधि क्यों दी? इसलिए कि उनकी आत्मा महान् थी, अर्थात् उनका दृष्टिकोण स्वार्थ-अहंकार-मय व्यक्तित्त्व से सीमित नहीं था, बल्कि एकात्मीयता के आधार पर सर्वजग में समभाव से फैला हुआ था। उनके उक्त गुण और उससे प्रभावित अन्य आचार-विचारों को देखकर कोई भी यह कह सकता है कि गांधी जी हमारी संस्कृति के अनुसार इस युग के महान् सन्त थे। परन्तु महान् सन्त होते हुए भी वे महाक्रान्तिकारी भी थे, इसे कौन अस्वीकार कर सकता है! इसलिए जब गांधी जैसा क्रान्तिकारी मनुष्य महा सन्त हो सकता है तो तुलसी जैसा महा सन्त भी, क्रान्तिकारी हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं। सच पूछा जाय तो केवल सन्त ही अपने साधुत्व के कारण क्रान्ति करने का अधिकारी हो सकता है। क्रान्तिकारी का मूल लक्षण है समाज को गतिरुद्ध करने वाली रूढ़ियों या अनीतियों से मुक्त कर उन्नति के पथ पर लगाना, और वह उन्नति पथ सृष्टि के स्वाभाविक विकास-प्रद नियम (Natural Law of Evolution) से सामञ्जस्य रखने वाला हो अर्थात् उसका पथिक केवल वही हो सकता है जो सर्वत्र समभाव

रखता हो। यदि किसी ने मेरा देश, तेरा देश अथवा मेरी कौम, तेरी कौम आदि में 'मैं-तैं' का राग गाया और 'समता माहि' में नहीं चला तो वह निश्चय ही सृष्टि की स्वाभाविक गति को अवरुद्ध करने वाला सृष्टि-द्रोही होने के कारण क्रान्तिकारी कहा जाने योग्य हो ही नहीं सकता।

: ३ :

तुलसी-विषयक अनुसन्धानों की समीक्षा

प्रचलित अनुसन्धानों का संक्षिप्त विवरण

तुलसी क्रान्तिकारी थे या नही यह तो तभी जाना जा सकता है जब हमें उनकी जीवनी का ज्ञान हो; और जीवनी का यह हाल है कि वह अभी तक अनुमानों और सन्देहों से मुक्त नही है। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने अपनी पुस्तक 'मानस की रामकथा' मे यह ठीक ही कहा है कि "गोस्वामी तुलसी-दास की कोई प्रामाणिक जीवनी नही मिलती। उसके लिये जो कुछ साधन उपलब्ध है, वे भी अधूरे और अनुपयुक्त से लगते है।"[1] एक तो स्वामी जी ने स्वयं अपनी कोई आत्म-कथा लिखकर नही छोड़ी, और न कही उन्होंने अपने जीवन के किसी भाग का स्पष्ट वृत्तान्त ही दिया है। जो कुछ इधर-उधर थोड़ी-बहुत उनके ग्रन्थों में बिखरी हुई सामग्री मिलती है, वह भी अपर्याप्त और भ्रमोत्पादक है। दूसरे, न तो किसी इतिहासकार का ऐसा इतिहास है और न तुलसी के किसी शिष्य या भक्त द्वारा लिखी गई कोई ऐसी कथा-वार्ता ही है, जिसमें हमें प्रत्यक्षाप्रत्यक्षानुभव पर आधारित तत्संबन्धी प्रामाणिक सामग्री मिल सके। इतनी असुविधा होने पर भी कुछ विद्वानों ने तुलसी के ग्रन्थों में यत्र-तत्र पाये गए कतिपय शब्दों, पदो या वाक्यों आदि को देखकर उनकी जीवनी के विषय में अनुसन्धान लगाना प्रारम्भ किया, और अभी भी उस सम्बन्ध में मंथन करते जा रहे हैं। ये अनु-सन्धान अभी तक तुलसी की केवल जन्म-मृत्यु-तिथियों, जन्म-मृत्यु-स्थानों,

---

१. मानस की रामकथा (किताब महल, इलाहाबाद; पृ० ९)

माता-पिता-जाति-कुल, बाल्यकाल, गृहस्थकाल, वैराग्यकाल, मरणकाल तथा साहित्यांगों से सीमित रखे गये हैं। इन विषयों पर अनुसन्धान-कर्त्ताओं के निष्कर्ष इस प्रकार पाये जाते हैं—

(१) **जन्म-मृत्यु-तिथियाँ**—जन्म सं० १५८९ (सन् १५३२) में, और मृत्यु ९१ वर्ष की आयु में सं० १६८० (सन् १६२३) में। जन्म-तिथि के विषय में मत-भेद था, परन्तु अब प्रायः सभी उक्त सम्वत् को स्वीकार करते दिखाई देते हैं। मृत्यु-तिथि के विषय में कोई मत-भेद नहीं रहा।

(२) **जन्म-मृत्यु-स्थान**—मृत्यु काशी में हुई इसमें कोई मत-भिन्नता नही है। परन्तु जन्म-स्थान के विषय में काफी मत-भेद चल रहा है। कोई उसे हस्तिनापुर कहते हैं; कोई चित्रकूट के निकट हाजीपुर, कोई तारी, कोई राजापुर, कोई काशी, कोई अयोध्या और कोई जिला एटा के सोरों अर्थात् सूकर क्षेत्र कहते हैं। अधिकांश मत राजापुर, जिला बांदा की ओर है, यद्यपि जिला बांदा की गजिटियर से यह प्रतीत होता है कि राजापुर तो तुलसी ने सोरों से आकर बसाया था, जैसा कि 'मानस की राम-कथा' के १८वें पृष्ठ पर दिये हुए उद्धरण से विदित होता है।

(३) **माता-पिता तथा जाति-कुल**—केवल एक मत को छोड़कर जिस पर आगे प्रकाश डाला जायगा,[२] यह प्रायः सभी को मान्य है कि तुलसी की जाति ब्राह्मण, माता हुलसी और पिता आत्माराम दुबे थे। वे कौन से वर्ग के ब्राह्मण थे, इस पर पर्याप्त मतभेद है। कोई उन्हे कान्यकुब्ज, कोई सनाढ्य और कोई सरयूपारी कहते हैं। कोई शुक्ल ही कहते हैं, क्योंकि 'कवितावली' में तुलसी ने एक स्थान पर 'सुकुल' शब्द का प्रयोग किया है। परन्तु यथार्थतः 'शुक्ल' कोई जाति-वर्ग नहीं है— वह ब्राह्मण जातियों का एक कुल-विशेष ही होता है।

(४) **बाल्यकाल**—तुलसीकृत 'कवितावली' और 'विनय-पत्रिका'

---

२. रजनीकान्त कृत 'मानस मीमांसा' (किताब महल, इलाहाबाद)

के कुछ छन्दों या भजनों को प्रमाण-स्वरूप मान केवल एक उपर्युक्त मत को छोड़कर प्रायः सभी एक मत से स्वीकार करते हैं कि तुलसी का अपने माता-पिता से बिछोह उनके बाल्यकाल में ही हो गया था। बिछोह के कारण के विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं। कोई कहते हैं कि माता-पिता की मृत्यु बाल्यकाल में हो गई थी। कोई कहते हैं कि वे बहुत गरीब थे इसलिए त्याग दिया था, और कोई यह बताते हैं कि तुलसी का जन्म 'अभुक्त मूल नक्षत्र' में हुआ था, जिससे उन्होंने तुलसी को त्याग दिया। त्याग का कारण जो भी हो पर सब एक स्वर से यह कहते हैं कि तुलसी को बाल्यकाल में खाने-पीने की बड़ी मुसीबत उठानी पड़ी। अन्त में 'नररूपहरि' शब्दों को रामचरित मानस में देखकर यह कहा जाता है कि नरहरिदास नाम के गुरु ने उनका पालन-पोषण किया और काशी में रखकर उन्हें भक्ति और ज्ञानोपार्जन कराया।

(५) गृहस्थ-काल---अधिकांशतः यह कहा जाता है कि काशी में कुछ काल व्यतीत होने के उपरान्त तुलसी राजापुर लौट गए और वहां किसी-किसी के अनुसार उनके तीन विवाह हुए। तीसरी पत्नी का नाम बुद्धिमती था। उससे---और किसी-किसी के मतानुसार दूसरी पत्नी रत्नावली से---तारक नाम का एक पुत्र हुआ, जो अल्पायु में ही मर गया। पुत्र शोक तथा बुद्धिमती में कामासक्ति के कारण उसके द्वारा धिक्कारे जाने पर तुलसी को वैराग्य उत्पन्न हुआ।

(६) वैराग्यकाल और मृत्यु---वैराग्य आ जाने पर तुलसी अधिकतर काशी में रहे और तीर्थाटन भी करते रहे। अन्त में काशी में उनकी मृत्यु हो गई। मृत्यु किस कारण से हुई, इस पर मतभेद हैं। डॉ० ग्रिअर्सन तथा उनको मान्यता देने वाले कहते हैं कि वे काशी में फैली हुई महाभयंकर 'महामारी' (प्लेग) से मरे और कोई कहते हैं उनकी मृत्यु 'बरतोर मिस' से हुई।

(७) रचनाएँ---तुलसी की रचनाओं पर, विशेषकर रामचरितमानस पर, विशद और विपुल विवेचन किया हुआ मिलता है, जिसका

यहां परिचय मात्र कराना आवश्यक है; क्योंकि हमारे प्रस्तुत विषय के अनुसंधान का आधार हमें भी तो तुलसी की रचनाओं को बनाना होगा। तुलसी की रचनाओं में निम्नलिखित ३१ ग्रंथों के नाम बताये जाते हैं, जिनमें से प्रथम १० के विषय में कोई संदेह नहीं। ११ वें और १२ वें के विषय में किंचित् संदेह है। शेष के विषय में पर्याप्त संदेह है। वे ये हैं—

(१) रामचरित मानस, (२) वैराग्य संदीपिनी, (३) पार्वती मंगल, (४) जानकी मंगल, (५) रामाज्ञाप्रश्न, (६) दोहावली, (७) कवितावली (हनुमान बाहुक समेत),[3] (८) गीतावली, (९) कृष्णगीतावली, (१०) विनय-पत्रिका, (११) रामलला नहछू, (१२) बरवै-रामायण; (१३) सतसई (राम सतसई), (१४) संकट मोचन, (१५) छंदावली, (१६) छप्पय रामायन, (१७) कड़रवा रामायन, (१८) रोला रामायन, (१९) झूलना रामायन, (२०) कुंडलिया रामायण, (२१) हनुमान चालीसा, (२२) कलिधर्म निरूपण, (२३) रामलला, (२४) ज्ञान-दीपिका, (२५) विजय दोहावली, (२६) ध्रुव-प्रश्नावली, (२७) मंगल रामायन, (२८) अंकावली, (२९) बजरंग साठिका, (३०) राम मुक्तावली, और (३१) गीता भाषा।

तुलसी की साहित्य-कुशलता और साहित्य तथा मानव जीवन दोनों की दृष्टि से मानस के अनुपम ग्रंथ होने में किसी को संदेह नहीं। उनकी कविता-वली और विनयपत्रिका भी मानवता पर पर्याप्त प्रकाश डालने वाले अनूठे ग्रंथ प्रायः सभी मानते हैं। दोहावली मानो धर्मतत्त्व और नीतितत्त्व का कोष ही है, और वैराग्य संदीपिनी तो तुलसी ने स्वयं कहा है, 'अखिल ज्ञान का सार' है। इसलिए जो तुलसी' की यथार्थता को जानना चाहता है वह यदि

---

३. काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित तुलसी-ग्रंथावली भाग २ में 'हनुमान बाहुक' को 'कवितावली' के अंतर्गत रखा है।

रामचरित मानस के अतिरिक्त उक्त ग्रंथों का भी अध्ययन यथाविधि करें तो बड़ा लाभ होगा।

रामचरितमानस की रचना तुलसीदासजी ही के कथनानुसार सं० १६३१ (संवत् सोलह सौ इकतीसा, कहों कथा हरिपद धरि सीसा) अर्थात् सन् १५७५ में प्रारम्भ हुई। इसके पूर्व तुलसी अन्य ग्रंथ लिख चुके थे, इसमें संदेह नहीं है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने अपने ग्रंथ 'तुलसीदास' में रचना-काल-क्रम के अनुसार तुलसी के ग्रंथों का क्रम इस प्रकार दिया है—राम लला नहछू, वैराग्य-संदीपिनी, रामाज्ञा-प्रश्न, जानकी मंगल, रामचरित मानस, पार्वती-मगल, गीतावली, विनय-पत्रिका, कृष्ण-गीतावली, बरवै रामायण, दोहावली और कवितावली। डॉ० बुल्के के क्रम के अनुसार भी मानस की रचना रामाज्ञाप्रश्न, जानकी-मंगल, और गीतावली के बाद आती है। रामाज्ञाप्रश्न का रचनाकाल रामाज्ञाप्रश्न के ७ वें सर्ग के ७ वें सप्तक के तीसरे दोहे के आधार पर सं० १६२१ माना जाता है।[४] यदि रामाज्ञाप्रश्न का रचनाकाल सं० १६२१ न भी हो तो भी यह तो निश्चय है कि मानस की रचना के काफी समय पहले से तुलसी की विचारधारा आदर्श मानवता की ओर झुक चुकी थी और वह आदर्श मानवता उन्हें अपने पूर्व-कथित त्रिभावात्मक राम ही में दिखाई दे रही थी। रामचरित मानस के बाद की रचनाओं में विनय-पत्रिका, दोहावली और कवितावली के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यद्यपि ये ग्रंथ तुलसी की स्फुट रचनाओं के संग्रहमात्र अथवा उनके अन्य ग्रंथों में कहे गये कथनों के संकलन मात्र प्रतीत होते हैं, तथापि तुलसी की जीवन-रेखा को खीचने के लिए उनका आश्रय लेना हमें अपरिहार्य-सा प्रतीत होता है।

४. 'मानस की रामकथा' पृ० १४७; नोट—चूंकि हमें उक्त दोहे में ऐसा कोई विश्वसनीय आभास नहीं मिलता, इसलिए हम उस दोहा को पाठकों के विचारार्थ उद्धृत करते हैं :—

सगुन सत्य ससि नयन गुन, अवधि अधिक नयबान।
होइ सुफल सुभ जासु जसु, प्रीति प्रतीति प्रमान॥

दूषित अन्वेषण-पद्धति

तुलसी की रचनाओं के संबंध में इस समय हमें कुछ और अधिक नहीं कहना है, इसलिए उसे छोड़ देता हूँ। हमारी अल्प मति के अनुसार, तुलसी-जीवन के अन्य उपर्युक्त अंगों के विषय में अनुसन्धायकों ने तुलसी के द्वारा कहे हुए शब्द-पदादि के आधार पर जो बहुत से निदान —विशेषकर उनके बाल्यकाल और जीविका-निर्वाह के बारे में निकाले हैं—वे सदोष और भ्रम-पूर्ण हैं, क्योंकि उनकी साधना अर्थात् अन्वेषण-पद्धति ही हमें सदोष मालूम होती है। हीरा-मोतियों की तोल जिस तरह शाक-भाजी की तराजू से नहीं की जा सकती, उसी तरह महापुरुषों के वचनों की परख स्थूल-बहिर्दृष्टि से नहीं हो सकती। उसके लिये चाहिए, गहराई में धसने वाली अन्तर्दृष्टि। प्राचीन-कालीन भाष्यों व मीमांसाओं को पढ़िए तो पता चलता है, कि उस समय हमारा अध्ययन विज्ञानमय अध्यात्म-प्रधान था, अर्थात् जब हम किसी महापुरुष के विषय में अनुसन्धान करना चाहते थे तो उसके प्राप्त-लेखों का विवेचन गहराई में पैठकर आध्यात्मिक दृष्टिकोण से करते थे। परन्तु मनुष्य का स्वभाव है कि वह कलान्तर से प्रचलित यथार्थता में किसी न किसी प्रकार की कृत्रिमता को ला ठूँसता है। इस स्वभाव के कारण शिष्यों ने गुरु पर अथवा पूजकों ने पूज्य पर अटल श्रद्धा होने के कारण या उनकी सम्मानित ख्याति बढाने के अभिप्राय से उनके शब्दों और कृत्यों का विश्लेषण—आध्यात्मिक दृष्टि से न कर उनमें चमत्कार-आरोप (Mysticism) करना प्रारम्भ कर दिया। इसका परिणाम इस प्रसंग पर भी व्यापक रूप से पड़ा है। तुलसी की जीवनी में तुलसी के कतिपय शिष्यों वा भक्तों ने कुछ ऐसी बातें लाद दीं कि उन्हें सुनकर विद्वान् लोग उन्हें निरी गप्पें कहते हैं, जैसे किसी प्रेत की सहायता से तुलसी को हनुमान और रामचन्द्र का दर्शन होना, उनके द्वारा लड़की का लड़का हो जाना एवं मरे हुए मुर्दा को पुनः जीवनदान करना तथा उनकी प्रार्थना करने पर कृष्ण-मूर्ति का राम-मूर्ति बन जाना इत्यादि।

परन्तु तुलसी की मृत्यु के लगभग दो सौ वर्ष बाद से, जब पाश्चात्य

विद्वानों का ध्यान तुलसी की ओर जाना प्रारम्भ हुआ, उक्त पद्धति में परिवर्तन होना शुरू हुआ।[१] इन विद्वानों ने चमत्कार-प्रिय लोगों के कथनों की उपेक्षा की और अपनी वास्तविक (Realistic) एवं सयुक्तिक (Rationalistic) कही जाने वाली पाश्चात्य आलोचनात्मक पद्धति का आश्रय लेकर तुलसी के जीवन का अध्ययन आरम्भ किया तथा उनके विषय में कुछ निष्कर्ष निकाले। इसके उपरान्त जब भारतीय विश्वविद्यालयों में हिन्दी को मान्यता दी जाने लगी तब से हिन्दी के कुछ अधिपाठकों (Professors) और हिन्दी में डाक्टरेट उपाधि-प्राप्ति के कुछ इच्छुक विद्यार्थियों ने भी उसी पाश्चात्य विधि का अनुसरण कर तुलसी-विषयक साहित्य को उन्नत करने में योग दान किया है और सम्भवतः भविष्य में भी करते रहेंगे। इसी तरह कुछ अन्य लेखकों ने भी इसी पाश्चात्य पद्धति के आश्रित होकर तुलसी की जीवन-वृत्त तथा कृत्यों पर पाश्चात्य लेखकों के समान कुछ हेर-फेर से अपने विचार निर्धारित किये हैं। इस प्रकार से लिखे गये कुछ ग्रन्थ हमने देखे हैं। उन्हे देखने पर हमारी अपनी सम्मति तो यह है कि यद्यपि उक्त विद्वान् लेखक सैकडों पुस्तकों वा लेखों के अवतरणों के आधार पर अपने अथक परिश्रम के द्वारा निर्दिष्ट विषय की परिपुष्टि करने में संलग्न रहे हैं, तथापि तुलसी के जीवन विषयक यथार्थता को वे भी नहीं पा सके। इसका मूल कारण हमे जो प्रतीत होता है वह यही है कि इन्होंने पश्चिमी भौतिक दृष्टिकोण को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया है और आध्यात्मिक दृष्टिकोण को, जो हमारी संस्कृति का परंपरागत प्रधान अंग है, भुला दिया है। पाश्चात्य विवेचनात्मक पद्धति का स्वीकार किया जाना लाभदायक हुआ है, इसमें सन्देह नही। परन्तु आध्यात्मिक पद्धति के बिना वह पंगु और भ्रमोत्पादक ही रही है। वह एकांगी होने के कारण हमें

---

१. सं० १८८८ (सन् १८३२) म डॉ० विलसन की पुस्तक 'A sketch of the religious Sects of the Hindus' प्रकाशित हुई। यही उसका आरम्भकाल कहा जा सकता है—देखिए 'मानस की रामकथा' पृ० ११।

केवल वाह्य रूपों, नामों और अर्थों में यहाँ तक उलझा कर रख लेती है कि हमारा ध्यान वास्तविकता की ओर जाता ही नहीं। इसका एक अत्यन्त बुरा परिणाम हमें यह दिखाई दे रहा है कि प्रगतिशील कहे जाने वाले इन लेखकों ने भी तुलसी के कतिपय कथनों का यथेष्ट अर्थ न लगाकर उन्हें जनता की दृष्टि में कुछ का कुछ बना दिया है, यहां तक कि श्री रजनीकान्त जी तो अपनी पुस्तक 'मानस-मीमांसा' लिखते समय मानो बौखला कर तुलसी पर आ ही टूटे हैं।

तुलसी के प्रति विद्वेष और दोष का प्रकाशन

यदि हमारा अनुमान गलत नहीं है, तो 'मीमासा' शब्द के पूर्व कालीन प्रयोगों पर विचार करते हुए हमे प्रतीत होता है कि उसमें 'आलोचना' शब्द की अपेक्षा विशिष्टत्व (Technique) निहित है। हमारी समझ में मीमांसा उस शास्त्र को कहते हैं, जिसमें लोक के आधार सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों वा नियमों के विवेचन करने वाले दर्शन शास्त्रों की समालोचना हो। इस दृष्टि से आलोचक की अपेक्षा, जिसका कार्य स्थूल भौतिक पदार्थों की विवेचना से सम्बन्धित रहता है, मीमांसक पर क्रोध और आवेश से परे, साहित्यिक-शिष्टता, विचार-साम्य, गभीर अध्ययन तथा सम्पुष्टिकारक-तर्क निबाहने का उत्तरदायित्व कई गुना अधिक रहता है, ताकि एक ओर तो आलोच्य विषय के प्रति अन्याय न हो, और दूसरी ओर जनता सन्मार्ग से च्युत न होने पावे। इसलिए हमें यह कहते अत्यन्त दुःख होता है कि 'मानस-मीमांसा' जैसे पवित्र नाम वाले ग्रन्थ में उसके लेखक अनेक उपाधिधारी होकर भी क्रोध और आवेश में आकर शोचनीय निम्नस्तर के गहरे गड्ढे में गिर पड़े हैं। जो गुण-कर्म के अनुसार 'वर्णों' के द्योतक शास्त्रीय शब्दों 'द्विज' और 'शूद्र' का शास्त्रीय अर्थ न जाने और उनसे जन्म-जात प्रचलित जाति-विशेषों का अर्थ समझ ले, जो यह न जाने कि 'विप्र' और 'ब्राह्मण' में शास्त्रीय भेद है, अथवा जो यह न जाने कि तुलसी ने कुछ न कुछ भेद देखकर ही 'ब्राह्मण' को कहीं 'पूज्यादि' नहीं कहा है—विप्र को ही पूज्यादि कहा है। यदि इन महोदय ने

इन शास्त्रीय शब्दों का शास्त्रीय अर्थ लगाया होता, अथवा यही समझा होता कि तुलसी ने शास्त्रज्ञ होने के कारण शास्त्रीय शब्दों का प्रयोग शास्त्रीय अर्थों में ही किया होगा तो वे 'मानस-मीमांसा' के ५७ वें पृष्ठ पर उद्धरित तुलसी के कथनों में आये हुए 'द्विज', 'शूद्र', 'विप्र', 'वरनाधम' शब्दों का अनर्गल अर्थ लगाकर तुलसी को ब्राह्मणों का पक्षपाती और शूद्रों का विरोधी न कह पाते, जिसके कारण क्रोध और आवेश में आकर उन्होंने अपना मानसिक संतुलन खोकर भिन्न-भिन्न स्थानों पर तुलसी को 'पाखंडी', 'राग-द्वेष-कलुषित-हृदय वाला', 'हेय तथा घृणित चालबाजी वाला', 'जहरीले दो मुंहे सांप की तरह वाला' आदि आदि सैकड़ों घृणित गालियां देने की धृष्टता न की होती। इनके केवल दो ही दृष्टान्त उसी स्थान के लीजिए जहाँ उन्होंने तुलसी का अवैध (नाजायज) सन्तान होना तथा उस कारण से माता-पिता के द्वारा फेंका जाना सिद्ध करने के हेतु अपनी सारी बुद्धि खर्च कर दी है। पृष्ठ ९ पर आप कहते हैं कि "गोसाईं जी के माता-पिता-सदृश महादरिद्र भिखमंगों के घर बच्चे उत्पन्न होने पर अर्थाभाव के कारण ज्योतिषी नहीं बुलाये जाते", और पृष्ठ ११ पर आपने कहा है कि "हमारा प्रतिदिन का अनुभव है कि दरिद्र से दरिद्र माता-पिता पुत्र के जन्म होने पर आर्थिक स्थिति के अनुसार कुछ न कुछ अवश्य बधावा बजाते हैं।" यहां 'बधावा बजाना' और 'ज्योतिषी बुलाना' की प्रधानता नहीं है, बल्कि दरिद्र से दरिद्र माता-पिता की हर्ष-प्रदर्शन करने की प्रधानता है। दूसरा दृष्टान्त इतना प्रबल है कि वह उनकी अवैध सन्तान वाली थ्योरी को अपने आप धड़ाम से गिरा कर फेंक देता है। एक ओर तो पृष्ठ ४ पर आप कहते हैं कि 'गोसाई जी के पैदा होते ही आपके माता-पिता ने अति ही निष्ठुरता के साथ आपका परित्याग कर दिया था' और दूसरी ओर उसी प्रसंग में पृष्ठ ६ पर उक्त पक्ष समर्थन के हेतु आप 'विनय-पत्रिका' के २७२ वें भजन का यह अंश उद्धृत करते हैं और आपही स्वयं उसका अर्थ भी देते हैं—

"(घ) अगुण अलायक आलसी जानि अधन अनेरो।
स्वारथ के साथिन तज्यो तिजरा कैसो टोटक औचट उलटि न हेरो।२७२।"

"अर्थ—मुझे गुणहीन, नालायक, आलसी और पापी जानकर अपने मतलब के साथी माता-पिता ने तिजारी के टोटके की तरह तज दिया और भूलकर भी मेरी ओर नहीं ताका।"

इसमें 'गुणहीन' आदि शब्दों, विशेषकर 'आलसी' शब्द के आने से कोई भी मूर्ख यह कह सकता है कि तुलसी का त्याग 'पैदा होते ही' अथवा 'सद्योजात अवस्था' में नहीं किया गया। बहुधा देखा जाता है कि किसी-किसी की रुचि बाल्यकाल से ही भजनीकों, सन्तों आदि में बैठने-उठने तथा भक्ति की ओर रहती है। इसलिए ऐसे बालक का मन घर के किसी काम-काज में नहीं लगता। तब उसके माता-पिता विशेष कर वे, जिनका उदर-निर्वाह निजी परिश्रम पर निर्भर रहता है, उससे नाराज रहने लगते हैं और उसे नालायक, आलसी, पापी आदि कहते हुए कभी-कभी ठोकने-पीटने भी लगते हैं। इस तरह धीरे-धीरे मामला यहाँ तक बढ़ जाता है कि या तो बालक स्वयं तंग आकर अपने मा-बाप को छोड़ कहीं बाहर भाग जाता है, या मा-बाप निकम्मा वा भार समझ उसे भगा देते हैं। यह भी देखने में आता है कि ऐसा होनहार बालक सन्त-हृदय महात्माओं को प्रिय लगता है। इसलिए कभी वे गरीब माता-पिता की अनुमति से, या कभी उसके माता-पिता के द्वारा त्यागे जाने पर, अपने आप उसे अपने संरक्षण में लेकर उसका पालन-पोषण वा शिक्षण आदि करने लगते हैं। जो लोग वैरागी सम्प्रदाय वाले महन्तों या मठाधीशों आदि की गुरु-शिष्य परंपरा को जानते हैं, उन्हें विदित होगा कि कई बालक इसी प्रकार से शिष्य बनाये हुए रहते हैं। इसलिए यदि तुलसी का उक्त कथन उन्हीं के व्यक्तित्व का ही परिचायक मान लिया जाय, तो इतना तो निश्चय ही मानना पड़ेगा कि तुलसी के माता-पिता ने उनको लगभग ८-१० वर्ष की अवस्था के पहले नहीं त्यागा होगा; क्योंकि उसके पूर्व वह कोई टहल करने योग्य ही नहीं हुआ होगा कि जिससे वे उसे आलसी समझने लगे होंगे। अतः रजनीकान्त जी स्वयं अपने हाथ से अपने 'अवैध सन्तान' तथा 'सद्योजातावस्था' वाले सिद्धान्त की हत्या कर डालते हैं जिसकी सिद्धि के लिये उन्होंने बिना किसी प्रमाण के 'कवितावली' के ७३ वें छन्द के प्रथम पद के

पूर्वार्द्ध 'बधावनो बजायो सुनि' के स्थान में उसे अस्वाभाविक और ऊटपटांग कहकर 'बधावो न बजायो सुनि' का पाठान्तर तक कर डाला है। यदि रजनीकान्त जी का कोई समर्थक यह कहे कि उन्होंने 'स्वारथ के साथिन' का अर्थ 'माता-पिता' अनभिज्ञता-वश या मूर्खता-वश लगा कर उक्त अंश को तुलसी के जीवन पर घटाने मे भूल की है तो हम भी नम्र शब्दों में कह सकते हैं कि उन्होंने 'मातु पिता जगजाय तज्यो'[6] और 'जननी जनक तज्यो जनमि'[7] का अर्थ 'पैदा होते ही' करने में अपनी अनभिज्ञता या मूर्खता ही प्रकट की है। उनका सीधा-सादा अर्थ इतना ही है कि 'माता-पिता ने जन्म देकर तज दिया', जो सब जीवधारियों के लिए सर्वत्र सदा एक-सा नियम है। 'तज्यो' से 'वियोग' का ही अभिप्राय है। इसी तरह कवितावली और विनयपत्रिका में दिए हुए तुलसी के कथनों के जितने उद्धरण अपने पक्ष-समर्थन के हेतु रजनीकान्त जी ने दिये है, उनमें से किसी से यह अर्थ नही निकाला जा सकता कि तुलसी का त्याग 'पैदा होते ही' हुआ।

इसमें हम केवल रजनीकान्त जी ही को दोषी नहीं कहते। दोष तो प्रारम्भ हो चुका था उनके पूर्व के लेखको में भी। चूकि रजनीकान्त जी ने अपने पूर्व के लेखकों की ही पद्धति का आश्रय लिया है, इसलिए उस दृष्टि से वे निर्दोषी कहे जाने के निस्सदेह अधिकारी है। परन्तु उनका दोष इसलिये हो गया है कि वे दूषित मनोवृत्ति के वशीभूत होकर चल पड़े। यह मनोवृत्ति क्यों उठी? इसलिए कि उन्होंने अज्ञानतावश तुलसी को ब्राह्मणों का पक्षपाती और शूद्रों का विरोधी होने का अपराधी मान लिया है।

'जन्मते ही फेंक देने' की बात तो उनके पूर्व के लेखक कह ही चुके थे, केवल 'अवैध' कहने की बात रह गई थी, सो रजनीकान्त जी ने पूरी कर दी।

---

६. कवितावली, उ० कां०, ५७, जो 'मानस-मीमांसा' के चौथे पृष्ठ पर उद्धृत है।

७. विनय-पत्रिका, भजन २२७, जो 'मानस-मीमांसा' के चौथे पृष्ठ पर उद्धृत है।

लाला भगवानदीन 'दीन' और पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र की सटीक कवितावली के सं० १९८८ वाले द्वितीय संस्करण (प्रकाशक—साहित्य-सेवक कार्यालय, काशी) में उक्त 'मातु पिता जग जाय तज्यों' में आये हुए 'जाय' शब्द का अर्थ पृष्ठ १५१ पर लिखा है—'जन्म देकर', और 'पैदा होते-होते ही'। इससे विदित होता है कि 'जाय' का अर्थ साधारणतया 'जन्म देकर' ही होता है। परन्तु पूर्व सम्मतियों का अभिप्राय सम्भवत. 'जन्मते ही' से रहा है। इसलिए अनुमानत: उक्त टीकाकारों ने उस अभिप्राय के प्रदर्शनार्थ 'पैदा होते-होते ही' यह दूसरा अर्थ भी दे दिया है। तभी तो उन्होंने ६४ वें पृष्ठ पर यह कहा है कि "यहाँ पर कुछ अंश उद्धृत करके अब अन्य ग्रन्थों और जीवनी-लेखकों के कथित वृत्तान्तों द्वारा कवि की एक छोटी-सी जीवनी भी हम देंगे। तुलसीदास को जन्मते ही माता-पिता का वियोग सहना पड़ा था।..... कुछ लोग कहते हैं कि अभुक्त-मूल-नक्षत्र में जन्म लेने के कारण तुलसी को उनके माता-पिता ने फेंक दिया था।" इससे सिद्ध होता है कि 'जन्मते ही फेंक दिया था' यह विचार रजनीकान्त जी के पहले से मौजूद था। उन्होंने तो केवल अभुक्त-मूल-थ्योरी का खण्डन कर उसके स्थान में 'अवैधपन' की थ्योरी को प्रस्तुत किया है। 'जन्मते ही फेंक देने' अथवा 'जन्मते ही वियोग' का भाव आया कि स्वभावत: अन्य प्रश्न उठ खड़े हुए, जैसे जाति-कुल और जीवन-निर्वाह के। अत: 'जायो कुल मंगन' (क० व० उ० कां० ७३), 'मेरे जाति-पाँति न चहों काहू की जाति-पाँति' (क० व० उ० कां०, १०७), तथा 'लोक कहे पोचु सो न सोचु न संकोच, मेरे ब्याह न बरेखी, जाति-पांति न चहत हों' (वि० प० ७६) आदि को देखकर यह आवाज भी उठ बैठी कि तुलसी की जाति का कोई ठिकाना नही; और जब जाति का ठिकाना नही तो कुल कैसे मालूम हो? इसलिए उसे मंगनादल का ठहरा दिया और फिर चले ढूँढने गुजर-बसर के मसले को। तुलसी के इन कथनों में—'कूकर टूकन लागि ललाई' (क० व० उ० कां० ५७), 'पेटागिबस खाए टूक सबके' (क० व० उ० कां० ७२), 'बारे तें ललात बिललात द्वार द्वार दीन' (क० व० उ० कां० ७३), 'चाटत रह्यो स्वान पातरि ज्यों कबहुँ न पेट भरो' (वि० प० २२६),

तथा ऐसे ही कुछ अन्य वचनों से यह निश्चय कर लिया, मेरे इन दोस्तों ने, कि तुलसी दर-दर पर गली-गली में कुत्ते के समान जूठन खाकर पेट पालता रहा, और 'मलीन कथरी वा करवा' (क० व० उ० कां० ५६) रखे हुए 'मसीत को सोइबो' (क० व० उ० कां० १०६) अर्थात् बिना घर-द्वार का होने के कारण मसजिद में सोकर समय काटता रहा। फिर कुछ दिनों के बाद उसे गुरु नरहरिदास उठाकर ले गये। परन्तु रजनीकान्त जी को भला इतने से कैसे चैन ! उन्होंने फिर एक नयी बात निकाली और कहा कि युक्त प्रदेश में एक अथीथ नाम की मंगनू जाति है जो गोसाई कहलाती है, इसलिए "हो न हो आपका पालक गोसाईं वर्ग का कोई अथीथ मंगन था, जो कहीं पर फेंके हुए आपको..... (अपने) घर उठा लाया और पाला-पोसा।"[८] इसी क़ारण से, उनके निदानानुसार तुलसी ने अपना कुल 'मंगन' कहा है और उपाधि 'गोसाईं' की धारण की है। इसके पश्चात् आपने तुलसी के विवाह तथा सन्तान वाले निष्कर्ष को भी गलत बताया है; क्योंकि उनके मतानुसार ऐसे बे-घरबार के भिखमंगा को कौन पुत्री देता !

प्रचलित अनुसन्धानों की निरर्थकता—

आश्चर्य होता है कि इन विद्वान् अन्वेषकों ने तुलसी की जाति-पाँति, खान-पान, विवाह-सन्तान आदि की खोज में ही लगभग ३०० वर्ष व्यर्थ नष्ट कर दिये; क्योंकि मानवता की जाँच के लिये वे प्रायः निरर्थक ही रहते हैं। किसी ने इस पर लक्ष्य रखकर अन्वेषण नहीं किया कि तुलसी ने अपने आदर्श 'सियाराम मय सकल जगत' के पूजनार्थ क्या उपाय किये और 'साहिब सीतानाथ से सेवक तुलसीदास' कहकर इस जगतरूप राम की क्या और किस प्रकार सेवाएँ कीं। जितनी माथा-पच्ची उपर्युक्त विषयों के निर्णयार्थ की गई है उतनी कहीं तुलसी की समाज-सेवा के अन्वेषणार्थ की जाती, तो हमारा विश्वास है, तुलसी अपने काल का एक महाक्रान्तिकारी पुरुष

८. मानस मीमांसा, पृ० २६

पाया जाता। कुछ लोगों ने उसे धर्म-संशोधक (Religions reformer) ही कहकर छोड़ दिया है; और धर्म से उनका अभिप्राय रहा है केवल 'हिन्दू-साम्प्रदायिकता' अथवा 'हिन्दू वर्णाश्रम-व्यवस्था' से। फिर, जिन विषयों के सम्बन्ध में मस्तिष्क लगाया गया वही यदि शुद्ध विधि से लगाया जाता तो भी मानव-सेवा की कुछ न कुछ रश्मियाँ अवश्य दिखाई देने लगती।

अनुसन्धायकों की त्रुटियों के मूल कारण—

तुलसी के शब्दों का अर्थ करते समय यदि यह ध्यान रखा जाता कि (१) तुलसी ४३ वर्ष की अवस्था में ही, जब कि उन्होंने मानस जैसे धर्म और नीति-प्रधान अद्वितीय ग्रन्थ की रचना प्रारम्भ कर दी थी, जीवन के उच्चतम तात्त्विक स्तर पर विचरने वाले तथा भक्ति-पक्ष के कट्टर समर्थक हो गये थे, (२) मानस के बाद वे ९१ वर्ष की अवस्था तक जीवित रहे। इसी शेष अवस्था में, संभवतः चौथेपन में उन्होने विनयपत्रिका और कवितावली की रचनाएँ कीं जैसा कि **'जरठाइ दिसा रविकाल उग्यो'** (क० व० उ० कां० ३१) से स्पष्ट होता है। इसलिए उनमें उस समय मानव-समता-सम्बन्धी प्रौढ़ता और आत्म-गाम्भीर्य की अधिकता का हो जाना स्वाभाविक था, (३) कवितावली का उत्तर काण्ड, जिसमें से तुलसी की शारीरिक दिनचर्या के निदान निकाले गये हे, उसी प्रकार ज्ञान-प्रधान है जैसा रामचरितमानस का उत्तरकांड, (४) संन्यास-आश्रम अथवा वैराग्य-काल में हर संन्यासी या वैरागी का, शास्त्रीय नियमानुसार, कर्तव्य ही यह हो जाता है कि वह ममता को त्याग कर समता में रत हो जाय और व्यक्तिगत बातों को छोड़ सार्वजनिक कार्यों में लग जाय। यद्यपि यह शास्त्रीय नियम बहुत कम लोग पूर्णतः पालन करते हे तथापि यह तो देखा ही जाता है कि एक नही, अनेक संन्यासी, वैरागी अथवा साधु-सन्त अपने व्यक्तिगत सम्बन्धों को प्रकट नहीं करते। इसके दो कारण होते हैं—एक तो शास्त्रीय सिद्धान्त ही यह बताता है कि संन्यासी या बैरागी के सम्मुख सब एक समान हो जाते हैं, और दूसरे इस तरह सम्बन्धों को गुप्त रखने से मोहात्मक मेल-जोल मिट जाता है, (५) जब

अन्य संन्यासी, वैरागी या साधु-सन्त अपने व्यक्तित्व तथा ममत्व की चर्चा नहीं करते तो तुलसी जैसे महान् वैरागी या सन्त से, जो बाल्यकाल से ही गुरु और सत्संगति में रहकर 'ममता तजि कै, समता सजि, संत-सभा' (क० व० उ० कां० ३०) का सेवी होने में रच-पच गया था, यह आशा करना कि जीवन के अन्तिम समय वह अपनी पूर्व कालीन शारीरिक जीवनी के विषय में रोता बैठेगा वैसा ही होगा जैसे स्वच्छ-निर्मल आकाश से पानी की बूँदों का टपकना तथा (६) विनयपत्रिका और कवितावली के उत्तरकाण्ड का प्रसंग यह नहीं है कि एक शरीरधारी मनुष्य दूसरे शरीरधारी मनुष्यों को अपने दुख-सुख की कथा सुनाता हो। वह प्रसंग है, जीव का ईश्वर से विलग होने पर तड़फड़ाना और उससे फिर मेल करके तदनुकूल सुख की प्रतीक्षा करना—वह प्रसंग है, आत्म-चिन्तन या आत्म-निरीक्षण (Self-introspection) का।

यदि इन बातों पर ध्यान रखा जाता तो तुलसी के कथनों का इतना ओछा अर्थ लगाने मे शक्ति व्यर्थ न खोई जाती। तात्पर्य यह कि कौन किस स्तर से बोल रहा है, किससे बोल रहा है, कब बोल रहा है और किस प्रसंग में बोल रहा है, इन चार आवश्यक बातो में से किसी एक पर भी यथार्थ ध्यान नही रखा गया।

तुलसी की विचार-धारा का प्रकाशन—

तुलसी की विचार-धारा कैसी चली है उसे जानने के हेतु थोड़ी देर को एक समुद्र के पास पहुंच जाइये। उसके जल का प्रत्येक कण उसके पूर्ण सुख का अनुभव कर रहा है। ग्रीष्म काल आया और सूर्य-रश्मियों के संग के लोभ में कुछ कण अभिमान (अहंकार)-वश उससे विलग हो जाते हैं, और हवा के झकोरे आदि नाना प्रकार की यातनाएँ सहते हुए ऊँचे आकाश की ओर भागते हैं। तत्पश्चात् उन्हें नीचे गिरना पड़ता है। फिर कभी मैल में लिपट-कर, कभी पहाड़-पत्थर से टकराकर, कभी कन्दरा-खोह में धँसकर, कभी इस तालाब की कभी उस नद-नदी की शरण में जाकर उस पूर्ण-सुख को प्राप्त करने के हेतु छटपटाते हुए इधर-उधर मारे-मारे भटकते फिरते हैं। जब वह

सुख नहीं मिलता तो उसकी याद करके अपनी पिछली मूर्खता से उत्पन्न अहंकार वाली बात पर रोते हैं, कभी मारे-मारे फिरने पर पश्चात्ताप करते हैं, कभी इसकी शरण जाते हैं तो कभी उसकी, परन्तु जब सब की ओर से निराशा मिलती है तो उसी अपने पूर्व स्वामी का चिन्तन करते हुए उसी की ओर उस समय तक भागते रहते हैं जब तक कि उसी में फिर से लीन नहीं हो जाते। बस! जीव की इसी भावना को तुलसी ने विनयपत्रिका और कविता-वली के उत्तरकांड में व्यक्त किया है। तुलसी की भक्ति विज्ञानमय है, यह हम पहले देख चुके हैं। हर विज्ञानी का ध्यान भूत, वर्तमान तथा भविष्य पर रहता है। तुलसी सर्वसाधारण जीव के रूप में इन्हीं तीनों कालों पर विचार प्रकट करता हुआ दिखाई देता है। जीव गहरी मुद्रा में होकर वही विचारता है जैसा भारत-भारती में मैथिलीशरण गुप्त ने कहा है—

'हम कौन थे, क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी।'

जीव पहले कण या अंश रूप से ईश्वर में लीन था। इसलिए वह स्व-भावतः पूर्ण सुखी था—'ईश्वर अंस जीव अविनाशी, चेतन अमल सहज सुखरासी।' (मा० उ० कां० ११६ (ख)।२)। वही फिर अविद्या अथवा माया के वश में होकर अहंकारी अथवा अभिमानी हो जाता है—'माया वस्य जीव अभिमानी।' (मा० उ० कां० ७७ (ख)।६)। पराधीन हुआ कि वह सारा सुख खो चुका—'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं' (मा० बा० कां० १०१।५), क्योंकि मायारूप मदारी उसे बन्दर के समान विषयरूपी रस्सी से बांधकर मन चाहे तहां भटकाने लगा—'सो माया बस भयउ गोसाईं, बंध्यो कीर मरकट की नाईं' (मा० उ० कां० ११६ (ख)।३)। इस तरह माता के गर्भ में पहुँचते ही अनेक प्रकार की यातनाएँ शुरू हो गईं। अन्त में शरीररूपी घर की जरजराहट मालूम पड़ने लगी अर्थात् बुढ़ापा शुरू हो गया और मृत्युरूपी महाभय दिखाई देने लगा। परन्तु आदत-वश पुरानी लतों में फिर भी कोई शिथिलता नहीं आई। यह जगत् के सभी जीवों का दुःख क्रम होता है, न कि केवल तुलसी का। हरएक बुढ़ापा के चिह्न आने पर अपने पहले कृत्यों पर पश्चात्ताप करता और धिक्कारता है। यही आत्माभिमानी

तुलसी तीसरे स्तर से दूसरे स्तर वाले जीवाभिमानी से अपने आप (Soliloqwy) कहता है कि अरे मूर्ख जीव! तेरी तरुणाई रूपी निशा, जिसमें तू ममता आदि विषयों में फंसा रहा है निकल गई, और मृत्यु रूपी महाभय के साथ बुढ़ापा काल ऐसा आ गया मानो अब सूर्य का उदय हो गया, फिर भी तू जागता नही है (देखो क० व० उ० कां० ३१)। इसी छन्द की अन्तिम पंक्ति यह है—'जरठाइ दिसा, रवि काल उग्यो, अजहूँ जड़ जीव न जागहि रे।' जीव का मूल दोष है, उसका 'अहं' अर्थात् 'मैं पन'। इस 'मैं पन' के साथ ही इच्छाए उत्पन्न होती हैं। जहाँ 'इच्छाएँ' हैं, वहां 'तृष्णा' है। जहाँ 'तृष्णा' है वहीं सब प्रकार के पाप-दोष उठने लगते हैं। जीव की इस तृष्णा युक्त कुवृत्ति को देखकर तुलसी ने उसे बार-बार 'कूकर' और 'मंगना' कहा है। इन्ही शब्दों के प्रयोग ने उपर्युक्त अन्वेषकों को भ्रम में डाल दिया है, जिससे उन्होंने जीव-परक अर्थात् मानव-जातिवाचक कथनों को व्यक्ति-वाचक तुलसी-परक समझ लिया है। कूकर की आदत है कि वह द्वार-द्वार पर टुकड़ा पाने के लिये पहुंच जाता है। जहाँ किसी ने कुछ दे दिया या पुचकारा तो पूँछ हिलाकर उसके पैरों पर लेटने लगता है, और कूं-कू करके सैकड़ों प्रकार से उसे रिझाने लगता है। इसके विपरीत जरा-सी डांट-डपट की कि फौरन भयभीत होकर भाग उठता है। ग़रज़ यह कि उसकी टुकड़खोर वृत्ति नीच रहती है और उसी वृत्ति के कारण जहाँ देखो वहाँ उसको निरादर सहना पड़ता है तथा भयभीत भी रहना पड़ता है। ठीक यही हाल उस मनुष्य का होता है जो मांग कर पेट भरता है—मान का तो उसे लेशमात्र कोई ख्याल नहीं रहता और चिन्ता भी यह बनी रहती है कि कुछ मिलेगा या नहीं; तथा भय इतना रहता है कि किसी ने दुतकारा कि भागा। अब हर जीव की—हर जीवधारी मनुष्य की—भी दशा देखिए, ठीक वैसी ही जैसी कूकर या मंगना की होती है। जिस प्रकार कूकर और मंगना को मांगे बिना चैन नहीं मिलता उसी प्रकार जीव जब से उत्पन्न होता है तभी से रो-रो कर मांगना शुरू कर देता है; पहले माता से और फिर जैसे-जैसे बड़ा होता जाता है तैसे-तैसे उसके मांगने का क्षेत्र भी बढ़ता जाता है। तात्पर्य यह है कि उसे किसी न

किसी पदार्थ को प्राप्त करने की लौ लगी ही रहती है, और उस हेतु वह न केवल अन्य जीवधारियों से, जिनमें मनुष्य की भी गणना आ जाती है, बल्कि पूजा-पाठ, यज्ञ-हवन या मौखिक प्रार्थनाओं आदि के द्वारा प्रेत-पितरों तथा देव-देवियों आदि सभी से कुत्ता जैसी पूँछ हिलाता या कूं-कूं करता हुआ, अथवा मंगना जैसे दांत काढ़कर हा-हा (काढ़त दंत करंत हहा है) करता हुआ याचनाएं करता-फिरता है। इच्छा पूरी होगी या नहीं इसका उसे भय बना रहता है। पूरी नहीं हुई तो मुँह नीचा कर लेता है, और फिर भी जब जैसा अवसर आता है तब तैसा पुनः वहीं दौड़ा जाता है। तुलसी के कहने का सार केवल इतना ही है कि हर जीव जब से माया अथवा अविद्या के वश में होकर अभिमानी हुआ तब से वह अपने स्वामी को भूल जाता है, जो सर्वसमर्थ हैं, और इधर-उधर उन लोगों वा देव-देवियों के पास, भटकता-फिरता है, जिनका कर्ता-धर्ता उसी स्वामी के अतिरिक्त अन्य और कोई नहीं। इसलिए तुलसी कवितावली, उत्तरकांड के २६वें छन्द में कहते हैं कि अरे, मूर्ख जीव! उसी एक ही को क्यों नहीं भजता, जिसकी दृष्टि-मात्र से, मनुष्य की कौन कहे, सारे देवता वा लोकपाल निहाल हो जाते हैं और जिसके साथ वही लक्ष्मी, जो अपनी चंचलतारूपी जाल में फंसाकर सारे संसार को छकाती रहती है कलायुक्त बनकर उन्हें प्रसन्न रखने में लगी रहती है। ऐसे समर्थ प्रभु का जन होकर उन्हें छोड़ तुलसी कहते हैं--हे जड़ जीव! तुझे लाज नहीं आती कि इधर-उधर कूकर के समान कौरा (टुकड़ा) मांगता फिरता है, तेरी जीभ क्यों नहीं जल जाती—'ताको कहाय, कहै 'तुलसी' तू लजाहि न, मांगत कूकर कौरहि' (क० व० उ० कां०, २६)। इसलिए हे मूर्ख जीव! जब तू यह देख चुका कि जो स्वयं तेरे स्वामी का दिया खाते हैं उनकी जूठी पातरों के चाटते रहने पर भी तेरा पेट नहीं भर पाया, अर्थात् तृष्णा पूरी नहीं हो सकी—'चाटत रह्यो स्वान पातरि ज्यों कबहुँ न पेट भरो' (वि० प० २२६) तो अब भी मान, उसी की शरण पकड़ ले और लोभी कुत्ते के समान मत भटक—'जनि डोलहि लोलुप कूकर ज्यों' (क० व० उ० कां० ३०)। क्या कोई कह सकता है कि तुलसी ने इन तथा इसी प्रकार के अन्य

कथनों में, जिनका विस्तार—भय और पुनरुक्ति-दोष के कारण यहाँ उल्लेख करना निरर्थक है, जगत् के सर्वजीवधारियों का सर्वसाधारण नियम (General Universal Law) निहित नहीं किया? कौन मनुष्य है जो इससे बचने का दावा कर सकता है? आप किसी के पास चले जाइये, चाहे वह निर्धन हो या धनी, तो उसे आप यही कहते पावेंगे कि भाई क्या करें, पेट-पापी नहीं मानता, इसी के लिए यह सब कुछ करना पड़ता है। ऐसा वह कहे अथवा न कहे, पर करता तो वह यही रहता है। सम्पत्ति-सम्पन्नता के हेतु रात-दिन व्यस्त रहने वाले एक लखपति को एक दिन पेट ठोककर यह कहते हुए कि पेट-पापी के लिये सब कुछ करना पड़ता है, मुझे हँसी आई और मन में कहने लगा कि वाह रे समय! गरीब पेट ठोके और धनवान भी पेट ठोके!! पेट बेचारा क्या हो गया मानो अतृप्त अग्नि कुंड! इसलिए जहां तुलसी 'मंगन' आदि की चर्चा करता है वहां प्रत्यक्ष भिक्षा से अभिप्राय नहीं समझना चाहिए। उसे तृष्णा, लोभ आदि का प्रतीक जानना चाहिए। इसी सर्वत्र-व्याप्त तृष्णा को दर्शाने के लिये तुलसी ने यत्र-तत्र 'पेटाग्नि' आदि शब्दों का प्रयोग किया है न कि तुलसी के उस प्रकार के व्यक्तिगत भीख मांगने को जैसा कि अभी तक के अनुसन्धायक करते चले आ रहे हैं। उदाहरण स्वरूप यह देखिए—

> "जाति के, सुजाति के, कुजाति के, पेटागिबस,
> खाये टूक सब के, विदित बात दुनी सो।
> मानस वचन काम, किये पाप सति भाय,
> राम को कहाय दास, दगाबाज पुनी सो।"
> (क० व० उ० कां०, ७२)

अथवा—

> "ऊंचे नीचे करम धरम अधरम करि
> पेट ही को पचत बेचत बेटा बेटकी।

'तुलसी' बुझाइ एक राम घनस्याम ही तें,
आगि बड़वागि तें बड़ी है आग पेट की।"
(क० व० उ० कां० ९६)

भाव-प्रदर्शनार्थ दृष्टान्तस्वरूप एक छन्द का विवेचन—

तुलसी के कथनों में जहाँ देखो वहां राम, जीव, कर्म, परिणाम, पश्चात्ताप तथा विश्वास (आशा) का विशद विवेचन मिलता है। इसी भाव का प्रदर्शन आपको कवितावली, उत्तरकांड के ७३वें छन्द में भी मिलता है, जिसमें 'जायोकुल मंगन' देखकर रजनीकान्तजी जैसे अनुसन्धानकर्ता मारे खुशी के उचक पडे, मानो किसी न्यूटन ने तुलसी को गिराने के लिये गुरुत्वाकर्षण-शक्ति का अन्वेषण कर डाला हो। चूकि रजनीकान्तजी के शब्दों में "तुलसी-विषयक यह अति ही प्रसिद्ध छन्द है," और चूकि उन्होंने कहा है कि "पाठक गण इसको विशेष रूप से नोट कर लें कारण कि इससे गोसाई जी के कुलादि तथा माता-पिता के आचरण पर प्रकाश पडता है", इसलिए अब हम केवल उसी को पूरा-पूरा लेकर पाठकों को बताएंगे कि इस प्रकार के लोग तुलसी के पवित्र विचारों पर दुर्बुद्धि की कीचड़ लपेट घोर अन्याय कर रहे है। वह छन्द यह है—

जायो कुल मंगन, बधावनो बजायो सुनि,
भयो परिताप पाप जननी-जनक को।
बारे तें ललात बिललात द्वार-द्वार दीन,
जानत हौं चारि फल चारि ही चनक को॥
'तुलसी' सो साहिब समर्थ को सुसेवक है,
सुनत सिहात सोच विधिहू गनक को।
नाम, राम रावरो सयानो किधौं बावरो,
जो करत गिरी तें गरु तृन तें तनक को॥

अर्थ जो रजनीकान्तजी ने दिया है—

"मैंने भिखमंगों के कुल में जन्म लिया। मेरा जन्म सुनकर बधावा

नहीं बजाया गया (यहाँ पर पाठक ध्यान रखें कि रजनीकान्तजी ने 'बधावनो बजायो सुनि' के स्थान में 'बधावो न बजायो सुनि' पाठ कर लिया है, जिसके विषय में अभी पहले बताया जा चुका है)। मेरे माता-पिता को अपने पाप (कुकर्म) का परिताप (पछताना) हुआ। मैं बचपन से ही भूख से व्याकुल होकर दरिद्रता के कारण अन्न के लिये लालायित रहता और घर-घर रोता फिरता था। कहीं चने के चार दाने भी मिल गये तो मुझे चारों पदार्थ (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष) पा जाने की खुशी होती थी। ब्रह्मा-ज्योतिषी ने जब सुना कि तुलसीदास जैसा दीन-हीन पापी भी समर्थ स्वामी (रामचन्द्र) का एक अच्छा सेवक बन गया तो उसको तुलसीदास-विषयक अपने फलादेश को झूठा होते देखकर आश्चर्य और शक हो गया। हे राम ! नहीं मालूम होता कि आपका नाम समझदार है कि पागल, जो वह तृण से भी हल्के पदार्थ को पहाड़ से भी भारी बना देता है; अर्थात् महापतितों को भी पूज्य बना देता है।"[१]

इस कवित्त का प्राण है वही राम-नाम, जिसके विषय में तुलसी की चातक रटन वाली उक्ति प्रसिद्ध है। इसका उद्देश्य है, कर्म और ज्ञान-मार्गियों के लिये राम-नाम वाले भक्ति-पक्ष की श्रेष्ठता बताना। इसकी विधि है आत्म-निरीक्षण (Self-introspection) करते हुए आत्म-चिन्तन करना। इसका वक्ता तुलसी और श्रोता भी तुलसी है—अन्तर्निरीक्षण चल रहा है; एक ओर जीवात्मा की हीनता है, और दूसरी ओर उस हीनता को मिटा देने वाले परमात्मा राम की समर्थता है। इसके अन्तर्गत निम्न सिद्धान्तों का रहस्य है, जिनके जाने बिना अर्थ नहीं समझा जा सकता। इसलिए उनका कुछ विस्तृत विवरण देना आवश्यक प्रतीत होता है, जिससे उनकी सहायता से तुलसी के अन्यान्य कथनों को भी समझने में सुगमता हो।

(१) **जायो कुल मंगन**—इसमें जीव के पुनर्जन्म का सिद्धान्त है। जब से जीव अहंकारी होकर सुखराशि भगवान् से अलग हुआ तब से सुखा-

---

१. मानस मीमांसा, पृ० ७

कांक्षा से प्रेरित हो वह अपने ज्ञान वा कर्मों के बूते पर मारा-मारा फिरता है। यह देखकर जरठावस्था आने पर तुलसी सोचते हैं कि अरे, जड़ जीव! अब भी नहीं जागता (क० व० उ० कां० ३१)। देख तो, तू कितनी योनियों में जन्मा और सुख-लाभ के लिये कितने असंख्य कर्म किये, पर क्या तेरे हृदय की प्यास कभी बुझी? वह तो ताप से जलता ही रहा—"जन्म्यो जेहि जोनि अनेक क्रिया सुखलागि करी, न परै बरनी। जननी जनकादि हितू भए भूरि बहोरि भई उर की जरनी।।" (क० व० उ० कां० ३२)। ऐसा क्यों होता है? इसलिए होता है कि तू अखंडात्मा का त्याग कर स्वाभिमानी बन खंडात्मा हो गया है और जिस अहंकार का तूने संग पकड़ा है वह 'मंगना' है, अर्थात् उसकी मृग-तृष्णा कभी बुझती नहीं। अविद्या का संग पकड़ने से तेरा एक बड़ा प्रबल कुनबा हो गया है—"प्रबल अविद्याकर परिवारा (मा० उ० कां० ११७ घ। ३)। इस परिवार में तत्त्वज्ञानी प्रधानतः अहंकार, मन, बुद्धि और चित्त की गणना करते हैं। इसी चतुष्टय को वे सूक्ष्म देह या लिंग शरीर भी कहते हैं लिंग अर्थात् चिह्न-मात्र। हिन्दू दर्शन के अनुसार यही लिंग शरीर जन्मता-मरता है, न कि जीव। जीव तो अपने पूर्व स्वरूप ईश्वर के समान अपरिवर्तनीय है। चूंकि उसने अविद्यावश लिंग शरीर का साथ पकड़ लिया है इसलिए उसके जन्म-मरणादि गुण-अवगुणों का आरोप जीव पर ही अज्ञानतावश किया जाता है। उदाहरण स्वरूप, यदि निर्दोष 'क' चिरकाल या अल्पकाल से 'ख' और 'ग' चोरों की संगति में पाया जाय, तो चोरी पकड़ी जाने पर 'ख' और 'ग' के साथ निर्दोष 'क' को भी दण्ड मिलता है। इस तरह जब तक अहंकार का पूर्ण त्याग कर मुक्तावस्था प्राप्त नहीं हो जाती तब तक कर्म-फलों के अनुसार जीव का इस लिंग शरीर के साथ-साथ बार-बार अनेक योनियों में जाना-आना नहीं रुक सकता। यही कारण है कि तुलसी ने जीव का 'मंगन कुल' में जायो (उत्पन्न) होना बताया है।

जिस पाश्चात्य दर्शन में जीव को ईश्वर उत्पन्न करता हो, और वही न मालूम कब आने वाले 'न्यायदिवस' (Day of Judgment) पर

सब जीवों के कर्मों का फैसला करके सुनाता हो, जिसमें चेतना (Conciosness) का भूतों से विकसित (Theory of Evolution) होना बताया जाता हो न कि तम के हट जाने से प्रकट (Theory of Manifestation) होना, जिसमें ईश्वर और जीवों में बड़े-छोटे का भेद रखकर आत्म-बल और आत्मानुभूति की प्रधानता न रख गौणता रखी हो, जिसमें आत्म-समर्पण असहाय्य (Helplessness) का चिह्न हो न कि अभिमान-दर्पादि से बचने का, तथा जिसमें केवल भौतिक और मानसिक अर्थात् नैतिक गति पर लक्ष्य रख आत्मैक्य वाले धर्म-तत्त्व को स्थान न दिया हो—तात्पर्य यह कि जिस दर्शन के सिद्धान्त हिन्दू-दर्शन के सिद्धान्तों से तीन और छै के अंकों के समान विपरीत हों उसके मानने वाले तथा उनके अनुयायी 'कुल मंगन' का अर्थ लगाने में यदि यह भूल करें कि तुलसी का सम्बन्ध संसार से केवल सन् १५३१ से सन् १६२३ तक ही रहा और उसका कुल उसके माता-पिता स्थूल शरीरधारियों ही का था, तो कोई आश्चर्य नहीं।

(२) **बारे तें ललात बिललात द्वार-द्वार दीन, जानत हौं**—इसमें लालच (तृष्णा) के वशीभूत होकर व्याकुल रहने के कारण दीनता तथा यत्र-तत्र भटकते रहने का भाव है। समर्थ के सम्मुख असमर्थता प्रकट करना ही दीनता कहलाती है। मुण्डकोपनिषद् ३।१।२ में इसी दीन भाव को 'अनीशा' (अन्+ईश) कहा है, जिसका शंकराचार्य ने अपने भाष्य में यह अर्थ बताया है—'तया शोचति सन्तप्यते मुह्यमानोऽनेकैरनर्थ प्रकारैरविवेकतया चिन्तामापद्यमानः' अर्थात् वह उस दीन भाव से युक्त होकर मोहवश अनेक अनर्थमय प्रकारों से आन्तरिक चिन्ता को प्राप्त हुआ शोक या सन्ताप करता रहता है।

जो लोग इसका तथा इसी प्रकार के अन्य स्थानों पर कई बार तुलसी द्वारा कहे गये कथनों का यह अर्थ लगाते हैं कि तुलसी बाल्यावस्था में भीख मांग कर पेट पाला करते थे, वे भूल करते हैं। हम यह बता चुके हैं कि कवितावली का रचना-काल तुलसी की जरठावस्था थी। इसलिए इस छन्द

में 'बारे तें' (बालापन से) और 'जानत हौं' ये जो दो पद आये हैं, उनसे यह स्पष्ट होता है कि तुलसी अपनी केवल भूतकालीन दशा का वर्णन नहीं कर रहे हैं, वरन् बचपन से लेकर कवितावली के लेखन-काल अर्थात् बुढ़ापे (जरठकाल) तक की समान स्थिति का चित्र खींच रहे हैं। क्या किसी अनुसन्धानकर्ता ने यह कहा है कि तुलसी दरिद्र-हीन होने के कारण बाल्यकाल के बाद भी जरठावस्था तक कूकर के समान टुकड़ा या जूठन आदि मांग-मांग कर अपना पेट पालता था ? यदि नही, तो फिर केवल बाल्यावस्था के विषय में ही कैसे और क्यों निदान निकाल लिया ?

(३) **भयो परिताप पाप जननी-जनक को**—हमारी समझ में 'परिताप' और 'पाप' ये दोनों विशेषण 'जननी-जनक' के लिये प्रयोग में नहीं लाये गये ? 'परिताप' तुलसी की दशा का परिचायक है, और 'पाप' जननी-जनक की दशा का। इसलिए 'परिताप' के बाद विराम चिह्न (,) समझकर अर्थ किया जाना चाहिए। ऐसा करने से इसका अर्थ यह होगा—'जननी-जनक का पाप मेरे लिये परिताप हुआ।' यह कैसे ? आत्म-निरीक्षक तुलसी सोच रहा है कि यदि माता-पिता का संयोग न होता तो मैं (जीव) न तो माता के गर्भ में आता और न मेरा यह तन ही उत्पन्न होता। यदि यह तन न होता तो समस्त यातनाओं और परितापों से बच जाता—'तुलसी यह तन तवा है, तपत सदा त्रय ताप' (वै० सं० ६)। परन्तु यह न हो सका। संभोग करने का 'पाप' तो माता-पिता ने किया, पर उसका त्रितापरूप फल मुझे भोगना पड़ रहा है। मां-बाप का भोगार्थ संसर्ग नैतिक दृष्टि से भले ही अदूषित हो, पर धार्मिक दृष्टि से इन्द्रिय-जनित विषय-भोग पाप ही समझा जाता है (पाप = प + आप; प = पतन, आप = प्राप्त होना, अर्थात् जो पतन करावे वही पाप कहाता है)। यद्यपि पाप का पतन रूप फल पाप-कर्ता को तो भोगना पड़ता ही है, तथापि कभी-कभी संयोगवश दूसरो को भी उसका दण्ड मिलता है, जैसा अभी बता चुके हैं और तुलसी ने भी कहा है—

"करइ जो कर्म पाव फल सोई। निगमनीति अस कह सब कोई।"

× × ×

"और करै अपराध कोउ, और पाव फल भोग।
अति विचित्र भगवंत गति, को जग जानै जोग॥"[१०]

(४) जानत हौं चारि फल चारि ही चनक को—तुलसी ने जिस प्रकार तृष्णा के अर्थ में 'कूकर' का प्रयोग कई स्थानों पर किया है, उसी प्रकार लोभ के अर्थ में 'चारि चनक' (चार चना) का भी कई स्थानों पर प्रयोग किया गया मिलता है। इस पंक्ति में भी मनुष्यमात्र की लोभ-वृत्ति का वर्णन है। यथार्थ में यहाँ उन ज्ञान और कर्म-मार्गियों के प्रति व्यंग है जो यह कहते हैं कि बिना ईश्वर-भक्ति के ही वे ज्ञान और कर्म के बल पर चारों फल, अर्थात् अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। तुलसी के मत में भक्ति के बिना चारों पदार्थों का मिलना कठिन है, जैसा कि उनके इस दोहे से प्रकट है—

"चारि चहत मानस अगम, चनक चारि को लाहु।
चारि परिहरे चारि को दानि चारि चख चाहु॥"[११]

अर्थ—मनुष्य चार फल चाहता है। परन्तु उनका मिलना अगम है, क्योंकि वह चार चनों (अर्थात् संपत्ति-संचय) के लाभ में लगा रहता है। इसके अतिरिक्त उसे यह आवश्यक होता है कि वह काम-क्रोध-मद-लोभ, इन चार विषयों को 'परिहरे' अर्थात् त्यागे, तन-मन-धन-धाम इन चारों का दान कर दे। (चारि को दानि) अर्थात् उनमें आसक्त न रहे, तथा वह इतना सावधान रहे कि उसकी दृष्टि (चारि चख चाहु) चारों ओर चौकन्ना रहे।[१२]

---

१०. मानस, अयो० कां०, ७६।८; ७७

११. दोहावली १५१

१२. इस दोहा में पाँच बार 'चारि' शब्द का प्रयोग किया गया है। उनका अर्थ हमने अपनी बुद्धि के अनुसार लगाया है। अतः हमीं उसके उत्तरदायी हैं।

चूंकि इन सब वृत्तों का भली भांति निबाहना अत्यन्त दुर्गम है, इस लिये इसी दोहे के आगे के दोहे में भक्ति-मार्ग की सरलता दर्शाने के हेतु यह कह दिया है—

"सूधे मन, सूधे वचन, सूधी सब करतूति ।
तुलसी सूधी सकल विधि, रघुवर प्रेम-प्रसूति ॥"

इन दोहों से स्पष्ट है कि 'जानत हौं चारि फल चारि ही चनक को' इस पंक्ति का अर्थ तुलसी की जीवनी से परिसीमित नही है वरन् अपने ऊपर ढालकर उन्होंने विश्व-व्यापी मानुषी वृत्ति का ही प्रदर्शन किया है।

(५) **सोच विधिहू गनक को**—सच बात तो यह है कि किसी काम के करने के तरीका को विधि या विधान कहते हैं। यही गुणवाचक संज्ञा बाद में 'भाग्य', 'प्रारब्ध', 'ललाट' आदि शब्दों के रूप में जातिवाचक संज्ञा, और 'ब्रह्मा', 'सृष्टिकर्ता' आदि के रूप में व्यक्तिवाचक संज्ञा बना ली गयी। इन सब का मूल भाव एक यही है कि सृष्टि में कर्म की प्रधानता रहती है, अर्थात् जो जैसा करता है वैसा ही फल वह भोगता है—'कर्म प्रधान विश्व करि राखा, जो जस करै सो तस फल चाखा।' इस तरह मनुष्य जितने शुभाशुभ कर्म करता है उन सब की छाप या संस्कार उसकी चेतना (चित्त) शक्ति पर पड़ते रहते हैं। इसलिए-विद्वान् लोग जब कभी ब्रह्मा, सृष्टिकर्ता, विधाता, भाग्य, ललाट आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं, तब उनके मन में इनका व्यक्तिवाचक या जातिवाचक अर्थ नहीं रहता, वरन् उनका ध्यान इन्ही शुभाशुभ कर्मों के संस्कार ,समुच्चय पर रहता है, जिसका बनना-मिटना-सुधरना मनुष्य के कर्मों के अनुरूप चलता रहता है। इसके अतिरिक्त कर्म और उनके यथेष्ठ फलों का सम्बन्ध इतना नियमित होता है मानो कोई बड़ा चतुर-प्रवीण लेखा-जोखा लगाने वाला गणितज्ञ (गनक) उसे स्थापित करने में लगा हो। इन्हीं सब स्वाभाविक अनिवार्य नियमों को ध्यान में रख कर तुलसी के कथनों का अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि वह किसी मूर्ख के समान ब्रह्मा को कपाल में लिखने वाला कहता

हो, या कि वह भाग्य-अभाग्य के आधार पर निर्भर रहने वाला हो। वह तो पूर्व कर्मों की विधि के अनुरूप पूर्व संस्कारों का भोगना अनिवार्य मानता है। पूर्व कर्मों की यदि भलाई होती तो पूर्वोक्त विधान के अनुसार उसे यह पुनर्जन्म का भोग क्यों भोगना पड़ता ? यही सोचकर तुलसी कहता है 'विधिहू न लिखी कछु भाल भलाई' (क० व० उ० कां० ५७), 'लोक कहें विधिहू न लिखियो, सपनेहूं नही अपने वरवा है' (क० व० उ० कां० ५६) तथा 'कै न आयों करौं न करौंगो करतूति भली, लिखी न बिरंचि हूं भलाई भूलि भाल है' (क० व० उ० कां० ६५)। परन्तु भक्ति-पक्ष इतना प्रबल होता है कि उसके सम्मुख कर्म-विधि-फलों की नियमित अनिवार्यता को भी झुक जाना पड़ता है, यही भाव तुलसी ने अपनी ओर इंगित करके कर्म-ज्ञानवादियों के सम्मुख उक्त छन्द में 'सोच विधिहू गनक को' कहकर दर्शाया है।

अब जब भाव स्पष्ट हो गये तो उक्त छन्द के अर्थ में कुछ कठिनाई नहीं रह जाती। इसलिए उसका अर्थ यह होता है—

पूर्व कर्म-वश अविद्या के अहंकारादि से युक्त प्रबल कुल में, जो तृष्णा-वश भिखारी बना रहता है, मुझे (मुझ जीवात्मा को) जन्म लेना पड़ा। कैसे? माता-पिता के भोगार्थ पाप के कारण। मेरे जन्म से उन्हे खुशी हुई और बधावा बजाया गया, जिसे मैंने सुना, परन्तु वह मुझ जीव को सन्ताप रूप ही हुआ। ज्योंही जन्म हुआ कि माता के दूधादि के लिए ललाने लगा; और ज्यों-ज्यों शरीर बड़ा होता गया त्यों-त्यों तृष्णा या लोभवश दृश्य-अदृश्य अथवा यथार्थ-अयथार्थ दाताओं के दरवाजे खटखटाता गया, तथा यह सोचता रहा कि इस भिखारीपन से ही चारों पदार्थ प्राप्त हो जावेंगे।

परन्तु जब से समर्थ स्वामी का सुसेवक बन गया हूँ अर्थात् निष्कपट भक्त हो गया हूं तब से मुझ जीव की सभी सराहना करने लगे हैं, और कर्म-विधि-अंक मिटते हुए देख विधाता सोच में हो रहा है। हे राम! यह सब

तेरे नाम की ही महिमा है जो जरा से तृण को पर्वत से भी भारी कर देता है।

अक्षम्य अवहेलना—

इस तरह कवितावली के उक्त ७३वें छन्द को दृष्टान्तवत् लेकर हमने यह बताया कि अनुसन्धानकर्ताओं ने तुलसी के भावों को नही समझा और इसलिए उनके कथनों का भ्रामक अर्थ लगाकर उनके प्रति अन्याय किया तथा पाठकों के बीच भ्रम फैला रखा है। भावों को अज्ञानता ही के कारण यदि यह त्रुटि होती तो वह क्षम्य हो सकती थी। परन्तु जब शब्दार्थ ही प्रसंग तथा तुलसी के अन्य कथनों की अवहेलना कर एक आंख बन्द करके किया गया पाया जाता है तो वही अन्याय अपराध के रूप में हमें अक्षम्य सा लगता है। यह भी हम कतिपय दृष्टान्तों को नमूने के तौर पर लेकर संक्षेप में बता देना आवश्यक समझते हैं। यदि क० व० उ० कां० के ७३ वें छन्द में 'जायो कुल मंगन' आया है तो उसी कांड के ३३ वें छन्द में 'भले कुल जन्म' कहा गया है। यदि अवैध सन्तान होने के कारण अथवा अन्य किसी भी कारण से तुलसी के माता-पिता ने उन्हे 'जन्मते ही तज दिया था' (देखो पूर्व में उद्धृत क० व० उ० कां० ५७वें और ७३वें छन्द, तथा वि० प० २२७), तो इधर क० व० उ० कां० ३२वें छन्द में आये हुए 'जननी जनकादि हितू भए भूरि' की ओर भी दृष्टि डाल लेनी चाहिए थी। यदि यह कहना अभीष्ट था कि तुलसी का न कोई विवाह हुआ और न कोई सन्तान हुई, या कि तुलसी की न कोई जाति-पांति थी और न कुल परिवार, तो इधर क० व० उ० कां० के ३०वें छन्द के 'सुत, दार, अगार, सखा परिवार विलोकु महाकुसमाजहि रे। सब की ममता तजि कै, समता सजि संतसमान विराजहि रे'—इन पदों पर भी दृष्टि डाल ली जाती तो क्या ही अच्छा होता। यदि 'कूकर टूकन लागि ललाई..... पेट खलाई' (क० व० उ० कां० ५७) आदि को तुलसी की व्यक्तिगत गति का परिचायक मानना था तो इधर छन्द १२४ व। १२५ पर दृष्टि डाल

लेते तो भ्रम-निराकरण हो जाता। ऐसे एक नहीं, दो-चार नहीं, अनेक स्थानों पर परस्पर-विरोध प्रतीति वाले कथन आपको दिखाई देंगे। शुद्ध रीति से समझने वाले के लिये उनमें यथार्थतः कोई विरोध नहीं है। विरोध केवल उन्हीं लोगों की पतंग काटने के लिए कहे जा सकते हैं जो यह समझते हैं कि तुलसी ने अपने व्यक्तिगत स्थूल शरीर की गाथा गाई है न कि विश्वव्यापी सर्वसामान्य कुवृत्तियों तथा कुगतियों को प्रकाशित किया है। यदि इन मित्रों को अन्य कथनों को देखने का अवकाश नहीं था, तो उन्हीं छन्दों या भजनों को आद्योपान्त विचारपूर्वक पढ़ लेते जिनमें से इधर-उधर के कुछ शब्दों को खींच-तान कर उन्होंने तुलसी की स्थूल प्रतिमा खड़ी करने के लिये कष्ट किया है। यदि यही किया होता अथवा किसी भी छन्द या भजन को ध्यानपूर्वक देखा होता तो भी इस प्रकार की अक्षम्य भूल न हो सकती। इसे बताने के लिये यदि हम दृष्टान्त प्रस्तुत करने लगें तो सम्भवतः कवितावली के उत्तरकांड के प्रायः सभी छन्दों तथा विनयपत्रिका के प्रायः सभी भजनों का उल्लेख करना पड़ेगा। अतएव दृष्टान्तस्वरूप पाठकों के अवलोकनार्थ विनयपत्रिका का केवल एक पद प्रस्तुत कर देते हैं, क्योंकि उसमें भी 'दीनता' और 'द्वार-द्वार' की बात आई है—

'कहा न कियो, कहाँ न गयो, सीस काहि न नायो ?
राम रावरे बिन भए जनमि जनमि जग दुख दसहूँ दिसि पायो ॥१॥
आस-बिवस खास दास ह्वै नीच प्रभुनि जनायो।
हा हा करि दीनता कही द्वार द्वार बार बार, परी न छार मुँह बायो ॥
असन बसन बिन बावरो जहँ तहँ उठि धायो।
महिमा मान प्रिय प्रान ते तजि खोलि खलनि आगे खिनु खिनु पेट खलायो ॥
नाथ हाथ कछु नाहि लग्यो लालच ललचायो।
साँच कहौं नाच कौन सो जो न मोंहि लोभलघु निलज नचायो ॥
स्रवन नयन मन मग लगे सब थलपति लायो।
मूँड़ मारि हियहारि कै हित हेरि हहरि अब चरन-सरन तकि आयो ॥

दसरथ के समरथ तुही त्रिभुवन जस गायो।
तुलसी नमत अवलोकिये बलिबाँह-बोल दै बिरदावलि बुलायो॥

एक यही पद तुलसी के उन सब भावों को प्रकाश में ले आता है, जिनके विषय में हमने ऊपर कहा है। तुलसी रूप में दीन जीवात्मा अपने समर्थ स्वामी के सम्मुख कहता है कि जहाँ तक मैंने सुना, देखा वा कल्पना की वहाँ तक मैं सब थलपतियों अर्थात् भौतिक सुखाधिपतियों (Sensual or Materialistic topmost pleasures') के पास सिर मार आया, पर बिना आपकी चरण-शरण के कहीं सुख न पाया। इतने ऊंचे भाव के सामने कितना खोटा लगता है वह भाव, जो कहता है कि तुलसीदास द्वार-द्वार पर टुकड़ा माँग कर अपना पेट पालता था !

एक तो अन्य कथनों (छन्दों आदि) की ओर आँख उठाकर नही देखना दूसरे एक ही कथन के तारतम्य पर विचार नही करना और तीसरे अपनी पूर्व में बना ली गई धारणा को सिद्ध करने के लिए अन्यय और अर्थ की खींचा-तानी करना, ये हैं त्रुटियाँ, इन अनुसन्धायकों की, जो हमें दिखाई देती हैं। कविता के रूप में होने के कारण यह स्वाभाविक है कि उन कथनों में कारक-सम्बन्धी विभक्तियों की कमी रहती है तथा शाब्दिक-क्रम भी कभी-कभी यथास्थान पर नही रहता। इसलिए उक्त खींचातानी अथवा तोड़-मरोड़ आसानी से की जा सकती है। इसका भी यह एक दृष्टान्त लीजिए।

विनयपत्रिका के २७५वें पद में यह पंक्ति आई है—

'तनु जन्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो मातु पिता हूँ'

इसका अर्थ यह किया जाता है—"जैसे कुटिल कीड़ा (सांप) अपनी देह से उत्पन्न हुई केंचुली को छोड़ देता है, वैसे ही मेरे माता-पिता ने मुझे जन्मते ही त्याग दिया।"[१३] यहां पर 'कुटिल कीट' की उपमा मातु-पिता को दे दी क्योंकि उससे 'अवैध उत्पत्ति' तथा 'जन्मते ही त्याग' की धारणा

---

१३. मानस मीमांसा, पृ० ५

को सिद्ध करने में बल मिलता है। परन्तु हमारी समझ में, वह उपमा तुलसी ने अपने तन के लिए दी है। यह तन क्या है? वही सूक्ष्मातिसूक्ष्म लिंग-शरीर से लेकर चर्मादिकयुक्त स्थूलातिस्थूल पर्यन्त। वह कुटिल क्यों है? इसलिए कि वह एक तो पूर्व कर्मों की हीनता के कारण अभागा है ही, और दूसरे अभी भी दुष्कर्मों से बाज नही आता और सर्प के समान आत्मा को डसता रहता है। यही अर्थ उक्त पंक्ति को उसके ऊपर और नीचे वाली पंक्तियों की संगति के साथ पढ़ने से विदित होता है। वे इस तरह है—

"है दयालु दुनि दस दिसा दुख दोष-दलन छम, कियो न संभाषन काहूँ।।
तनु तज्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो मातु पिता हूँ।
काहे को दोष रोष काहि धौं मेरे ही अभाग मो सों सकुचत सब छुई छाहूँ।।"

तुलसी अपने स्वामी के सम्मुख अपनी दीनता बता रहा है कि हे प्रभु! दुनिया की दसों दिशाओं मे बड़े-बड़े दयालु है जो दुख-दोष को मिटाने वाले और क्षमाशील है। फिर माता-पिता तो इन सबसे बढ़े-चढ़े हैं। परन्तु मैं ऐसा अभागा (कर्म-हीन) हू कि औरों की क्या कहू मेरे माता-पिता भी जिन्होंने मेरे इस तन को रचा है, मेरी रक्षा नही कर सके। तुलसी साधु-स्वभाव के है। इसलिए वह न किसी पर रोष करते और न किसी को दोषी ठहराते, क्योंकि कर्मों के वश वे स्वय उस सब के उत्तरदायी है।

निष्कर्ष यह हुआ कि तुलसी के नैतिक और अध्यात्मप्रधान कथनों पर जिस प्रकार व्यक्तिगत जीवन से संबंधित घटनाओं का आरोप किया गया है वह न्यायसगत नही है। उनके कथनों पर से उनकी जीवनी के विषय में अनुसन्धान लगाने की जो पद्धति चल पड़ी है, वह हमारी अल्पमति के अनुसार सदोष तथा भ्रामक है।

: ४ :

तुलसी और मानस की पृष्ठ-भूमि

वर्तमान अध्याय का विषय

पिछले अध्याय के पढ़ने से ज्ञात हुआ होगा कि तुलसी की जीवनी के विषय में जो अनुसंधान किये गये हैं उनका आधार अधिकतर उनकी कवितावली और विनयपत्रिका ही है। रामचरितमानस की ओर, जो उनका सर्वप्रधान ग्रंथ है, प्रायः कोई ध्यान नही दिया गया। मानस की रचना सं० १६३१ में हुई, उनकी माता का नाम हुलसी था, और बाँबा नरहरिदास ने उन्हें पाला और शिक्षा दी तथा वे राम के महाभक्त थे—बस! इन्हीं इनी गिनी तीन-चार बातों का आधार मानस से किया गया प्रतीत होता है। परन्तु हमारी समझ में मानस ही उनका एक ऐसा ग्रंथ है जिसके आधार पर उनकी प्रौढ़कालीन जीवनी का सही-सही लेखा लगाया जा सकता है। इससे हमारा यह अभिप्राय नहीं कि दूसरे ग्रंथों की ओर कोई ध्यान देने की जरूरत नहीं। दूसरे ग्रंथ सहायक के रूप में उपयोगी हैं, इसमें संदेह नही। यथार्थ बात तो यह है कि तुलसी और मानस को सब लोग जानते हैं, ऐसा जोड़ा बन गया है कि एक का नाम लेने या स्मरण करने से दूसरे की तत्काल याद आ जाती है, और ऐसा लगता है मानो एक दूसरे का प्राण हो, अथवा यह कहिए, एक दूसरे का प्रतिबिम्ब झलकाने के लिए दर्पण के रूप में हों। परन्तु मानस में तुलसी के प्रतिबिम्ब का देखा जाना तभी सम्भव हो सकता है जब वह मानस किन्हीं ऐसे चतुर व्यक्तियों के हाथ में हो जो उसमें भिदे हुए गुणों का न केवल अवलोकन ही कर सकें बल्कि उन्हें यथाविधि देख-देख कर उस प्रतिबिम्ब की रेखाएँ भी खींचने में समर्थ हों।

दूसरे शब्दों में 'मानस' का जो सच्चा आलोचक हो, उसी को उसके लेखक तुलसी की जीवनी का परिचय उसमें मिल सकता है। इसे जानने के लिए यह आवश्यक है कि हम तुलसी के कथनों के आश्रय से वर्तमान अध्याय में मानस की एक पृष्ठभूमि पाठकों के सामने प्रस्तुत कर उसके द्वारा यह बता दें कि तुलसी के मत में मानस का सच्चा आलोचक होने का अधिकारी कौन हो सकता है।

मानस नाम क्यों ?

तुलसीदास जी ने 'नामनिरूपण नाम यतन तें' कहकर यही बताना चाहा है कि नाम-करण का भावी जीवन के लिए साधारणतः बड़ा महत्व होता है। आर्य संस्कृति में प्राचीन काल से ही इस महत्व पर यहां तक विचार रखा गया है कि जीवन के सोलह संस्कारों में से एक संस्कार नाम रखने का भी मनाया जाता है, जिसमें विद्वान् लोगों की सम्मति से सन्तान का नाम रखा जाता है। इस महत्व का मूल कारण यह है कि उपयुक्त परिस्थितियों में नाम एक प्रकार से जीवन-पथ पर ले चलने के लिए मूक मार्ग-प्रदर्शक (guide) का काम करता रहता है। यही कारण है कि हमारे यहाँ के नाम अभी भी देवादिसूचक रहा करते हैं। जिस प्रकार माता-पिता अपनी संतान का नाम बड़ी सावधानी से रखते हैं उसी प्रकार ग्रंथ कर्त्ता भी अपने ग्रंथ का नाम बड़े सोच विचार के बाद चुनता है, ताकि नाम में ग्रन्थ-विषय की मूर्त्ति झलक उठे। तुलसीकृत रामायण को हाथ में लेते ही पाठक के मन में यह शंका उठती है कि तुलसीदास जी ने उसे सीधा-सादा नाम 'रामायण' 'राम कथा' या 'रामचरित' न देकर 'रामचरित-मानस' क्यों दिया? इसका स्पष्टीकरण तुलसी की निम्न पंक्तियों में थोड़ी गहराई में जाने से हो सकता है;

विमल कथा कर कीन्ह अरंभा।
सुनत नसाहिं काम मद दंभा॥

राम चरित मानस एहि नामा।
सुनत श्रवन पाइअ बिश्रामा॥

× × ×

रचि महेस निज मानस राखा।
पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा॥
तातें रामचरित मानस बर।
धरेउ नाम हियँ हेरि हरषि हर॥[1]

हमारी बुद्धि के अनुसार तुलसी ने यह रामचरित मानस नाम दो कारणों से चुना है। एक, पाठकों या श्रोताओं की दृष्टि से, जो प्रथम दो पंक्तियों में व्यक्त है, और दूसरे स्वयं अपनी दृष्टि से, जो अन्तिम दो पंक्तियों से प्रकट होता है। ('पाइअ बिश्रामा' वाली पंक्ति और 'रचि महेस' वाली पंक्ति के बीच में जो तीन पंक्तियाँ कल्याण प्रेस वाली प्रति में दी हैं और जिनसे मानसरोवर का अर्थ निकलता है वे हमारी समझ में तथा मूल मानस के एक अप्रचलित संस्करण के आधार पर प्रक्षिप्त हैं। यदि प्रक्षिप्त न भी मानी जावें तब भी वे रूपक के रूप में हैं। अतः हमारे अर्थ का उनसे कुछ बिगड़ता नहीं।) मानस का अर्थ मन है, यह सभी जानते हैं। इसलिए प्रथम दो पंक्तियों का भावार्थ यह है कि "जिस पवित्र कथा का लिपिबद्ध करना मैंने आरंभ किया है और जिसका रामचरित मानस नाम मैंने रखा है उसके सुनने से श्रोताओं के कामादि विकार नष्ट हो जावेंगे तथा उनके नष्ट होने पर मन को विश्राम या शांति मिलेगी।" रामायण, रामकथा या रामचरित कहने से केवल इतना अर्थ निकलता कि ग्रन्थ में राम के चरित्रों का वर्णन है न कि उसके फल का भी। वह फल तुलसी कहते हैं, यह है कि उसके सुनने ('सुनत' दोनों पंक्तियों में आया है) से सुनने वाले के मन को शांति मिलेगी। ग्रन्थ की यही महत्ता बतलाने के अभिप्राय से 'मानस' शब्द जोड़ा गया है, ऐसा हमारा विचार है, क्योंकि तुलसी का, अन्य सभी सभ्य जातियों

---

१. मानस बा० कां० ३४।६–७ और ११–१२

के समान, जीवन का मूल सिद्धान्त यही है कि मन अविकृत होकर शांति-सुख प्राप्त करे। अतः वर्णन और उद्देश्य दोनों प्रकट करने के अभिप्राय से यह नाम चुना गया है।

अपनी निजी दृष्टि से क्यों यह नाम रखा, उस पर विचार करने के पूर्व दो बातों को समझना आवश्यक है। एक तो यह कि हर कर्त्ता हर वाह्य कार्य के पहले अपने मस्तिष्क या मन में उसकी रचना कर लेता है, और यदि मन अविकारी हुआ तो उसमें अभ्रम श्रेष्ठता आ जाती है। दूसरे, महेश के और भी नाम हैं जैसे शंकर, कामारि, हर, शिव आदि। शंकर (शम् + कर) और कामारि (काम + अरि) उस मानसिक स्थिति के बोधक हैं जहाँ इन्द्रिय-जनित कामादि विकारों का पूर्णतः शमन हो गया हो। (शिवा या उमा प्रकृति की द्योतक है। उनकी तात्त्विक व्याख्या करने की यहाँ आवश्यकता नहीं।) अत आखिरी दो पंक्तियों का भावार्थ यह है—"मैंने अपने हृदय मे प्रसन्नतापूर्वक महेश रूपी कामादि से पूर्णतः विकार-हीन स्थिति को आदर्श मान अपने मन को यथाशक्ति विकारहीन (पवित्र) बनाकर पहले उसमे ही रामचरित्र का ढाचा तैयार किया, तब पीछे उसे लिपि बद्ध कर रहा हूँ। इसलिए (तातें) मैंने इसका नाम रामचरितमानस रखा है क्योंकि उसके मूल मे मेरी अदूषित मानसिक स्थिति ही की प्रधानता है।"

चूँकि मानसिक पवित्रता प्राप्त करना ही धर्म है, इसलिए यह दर्शाने के लिए कि ग्रंथ का आधार और उद्देश्य दोनों 'धर्म' है, रामचरितमानस नाम रखा गया है। आपने वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड के दूसरे सर्ग में पढा होगा कि वाल्मीकि ने अपनी रामायण की रचना ब्रह्मा के कहने से की। परन्तु तुलसी को यह पसन्द नही आया, क्योंकि 'ब्रह्मा' संज्ञा में विकारोत्पादक भौतिक सृष्टि या रचना (Material Creation) का भाव रहता है इसलिए उन्होंने निर्विकार रूप कामारि महेश की रचना को आदर्श मान उससे प्रोत्साहित होकर रामायण लिखी क्योंकि सृष्टि में भूले हुए लोगों के लिए महेश ही धर्म अथवा अध्यात्म रचना (Religious

or Spiritual Creation) के अधिष्ठाता होकर नायक का काम करते हैं जैसा कि आगे १० वें अध्याय में बताया जायगा।

मानस का विषय

जैसा नाम वैसा ही ग्रंथ का विषय, राम के चरित्रों का वर्णन। परन्तु स्मरण रहे कि तुलसी का यह राम वाल्मीकि के राम से भिन्न है। वाल्मीकि का राम इक्ष्वाकुवंशीय आदर्श पुरुष दशरथ-नन्दन है। उसी का गुण गान नारद मुनि ने वाल्मीकि को उनके पूछने पर सुनाया था (वा० रा० बा० कां० प्रथम सर्ग), और जिस राम का गुणगान उन्होंने नारद से सुना था उसी के चरित्रों को श्लोक बद्ध करने के लिए ब्रह्मा जी ने उनसे कहा था (वा० रा० बा० कां० दूसरा सर्ग)। इससे प्रकट है कि वाल्मीकि का यह राम केवल एक ऐतिहासिक अथवा आख्यानित आदर्श पुरुष है, न कि तुलसी का त्रिविध राम जिसके विषय में हम प्रथम अध्याय में अपने विचार प्रकट कर चुके हैं। सर्वव्याप्त निर्गुणात्मक राम, सर्वव्याप्त सगुणात्मक राम और विशेषात्मक राम—इन तीनों का समन्वय तुलसीकृत रामायण का विषय है, और यह समन्वय भी ऐसा रखना था कि जिससे, एक ओर तो, तत्संबंधी शास्त्रों की मर्यादा भंग न हो, और दूसरी ओर तुलसी काल की बिगड़ी हुई समाज-व्यवस्था का सुधार भी हो सके।

तुलसी का ध्यान तीन बातों पर

अपना वक्तव्य देते समय हर वक्ता का और अपना ग्रंथ लिखते समय हर लेखक का विचार तीन ओर दौड़ता है—(१) अपने विषय की ओर, (२) उस विषय के संपादनार्थ अपनी योग्यता की ओर, और (३) श्रोताओं या वाचकों पर तदर्थीय प्रभाव पड़ने की ओर।

तुलसीदास का ध्यान भी इन तीनों बातों की ओर गया। फिलहाल अभी प्रथम दो बातों को देखेंगे। तत्पश्चात् इसी अध्याय में प्रसंग आने पर तीसरी बात पर कहा जायगा।

भाव और भाषा का सम्बन्ध

प्रथम बात को जानने के लिए पहले हमें संक्षेप में यह जानना चाहिए कि भाव और भाषा का क्या सम्बन्ध है। भाषा भाव को प्रकट करने का एक साधन है। व्यापक दृष्टि से देखिए तो सारी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सृष्टि ईश्वरीय भाव का प्रकाशमात्र है। मनुष्य जगत् की दृष्टि से देखिए तो मानवीय भाव का प्रकाशन दो प्रकार से होता है। एक है, शरीरांगों पर अनेक प्रकार से उसका प्रस्फुटन हो उठना, जैसे हर्ष या प्रेम का मुसकराहट, अश्रु-धार एव रोमांचादि के रूप में तथा रौद्र या क्रोध का लाल नेत्र, ओंठ का फड़कना एवं भौंहारोहणादि के रूप में। इस प्रकार के प्रस्फुटन को लोग स्वाभाविक (Natural) कहते हैं, हालांकि विचारपूर्वक देखने से यह स्पष्ट है कि उक्त प्रस्फुटन के पूर्व भाव को भावुक के राग-द्वेष, सुख-दुःखादि विकारों को पार करते आना पड़ता है। फलतः सच पूछा जाय तो यह स्वाभाविक कहा जाने वाला प्रस्फुटन उसी प्रकार स्थूल विकृत रूप होता है जिस प्रकार प्रत्यक्ष में दिखाई देने वाला किसी नदी का प्रथम स्रोत उसके पूर्व अदृश्य सूक्ष्मातिसूक्ष्म उस जल कण का होता है जिसे भूमि के क्षार आदि आंतरिक गुणों (Properties) में से होता हुआ आना पड़ता है। दूसरा प्रकार है, भाषा के द्वारा भाव को प्रकट करना। इसमें प्रथम प्रकार के प्रस्फुटन की अपेक्षा कृत्रिमता कई गुनी अधिक रहती है, क्योंकि भाषा मनुष्यकृत है। मनुष्य आंतरिक गतियों को प्रकट करने के लिए भाषा रूपी कृत्रिम संकेतों का निर्माण कर लेता है, जिनका विकास यद्यपि सामाजिक गति-विधि के अनुरूप होता रहता है, तथापि उच्चकोटि के भाव तक पहुँचने के लिए वे अपर्याप्त ही सिद्ध होते हैं। इसके साथ ही पूर्वोक्त राग द्वेषादि विकारों को इस भाषा रूपी साधन के समय विशेष रूप से अपना बल दिखाने का अवकाश मिलता है। निष्कर्ष यह हुआ कि भावुक तथा दर्शक, चाहे वे वक्ता वा श्रोता के रूप में हों या लेखक वा वाचक के रूप में, दोनों विकारहीन नहीं हुए तो न तो भावुक अपने भाव

का प्रदर्शन यथार्थ निर्मल रूप में कर सकता और न दर्शक उसका यथार्थ निर्मल रूप में दर्शन कर सकता है। समाज की जिस संस्कृति में भावुक वा दर्शक शिक्षित होते हैं और भाव जिस कोटि का होता है इन दोनों का भाव प्रदर्शन और भाव-दर्शन पर पर्याप्त प्रभाव दिखाई पड़ता है।

मानस-रचना के पूर्व तुलसी के सम्मुख गहरी समस्या और उसका समाधान

यद्यपि तुलसीकालीन समाज की नैतिक स्थिति अत्यंत शोचनीय थी, जैसा कि आगे बताया जायगा, तथापि तुलसी सन्त थे, इसलिए यह अनुमान लगाना कि उनके व्यक्तित्व पर उस समाज में प्रचलित विकारों का प्रभाव न पड़ा होगा, कुछ असंगत न होगा। इसके अतिरिक्त जिस धर्म प्रधान 'भक्ति भारत-भूमि' की प्रसिद्ध धार्मिक वा आध्यात्मिक आर्य-संस्कृति में वे पुष्ट हुए, जिस धर्म प्रधान प्राचीनतम विकसित संस्कृत साहित्य में उनका अध्ययन हुआ, जिस धर्म प्रवीण गुरु तथा संत-समाज के समागम में उनका बौद्धिक और आत्मिक विकास हुआ. एवं जिस परम-पवित्र परतत्त्व राम-भाव को लेकर वे चल निकले उन सबों पर सामूहिक दृष्टि से विचार करने से यदि यह कहा जाय कि उनका भाव भाषा के रूप में प्रकट होते-होते तक निर्मल ही बना रहा होगा तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। फिर भी तुलसी स्वयं तो यही जानते थे कि उनका राम पूर्ण है, और पूर्ण अपूर्ण से उसी प्रकार नहीं बाँधा जा सकता जैसे अथाह-असीम समुद्र चुल्लू में नहीं समा सकता, अथवा यथार्थ अयथार्थ से उसी प्रकार प्रदर्शित नहीं किया जा सकता जैसे आन्तरिक गतियों का प्रतिबिम्बन फोटो या शिलांकित मूर्त्ति के द्वारा नहीं हो सकता। वे यह भी जानते थे कि पवित्र अपवित्रता की थोड़ी सी धुंध में भी उसी प्रकार धुँधला प्रतीत होने लगता है जिस प्रकार आकाश में धूलि कणों के फैल जाने से सूर्य ढँक जाता है। इसलिए उन्होंने रामायण को प्रारम्भ करते समय ही पाठकों के सम्मुख पुनरुक्तियों की चिन्ता न करके अपने आदर्श की असीमता तथा अपनी असमर्थता एवं अपवित्रता को बार-बार विविध प्रकार से कह कर प्रकट कर दिया है। उक्त आशय

की अनेक पंक्तियों में से कुछ थोड़ी हम पाठकों के अवलोकनार्थ नीचे देते हैं। वे ये हैं—

करन चहउँ रघुपति गुण गाहा। लघुमति मोर चरित अवगाहा॥
सूझ न एकउ अंग उपाऊ। मनमति रंक मनोरथ राऊ॥[२]॥

× × ×

भाग छोट अभिलाष बड़। करउँ एक बिस्वास॥[३]॥

× × ×

भाषा भणित मोरि मति भोरी। हँसिबे योग हँसे नहिं खोरी॥[४]॥

× × ×

कवि न होउँ नहिं चतुर प्रवीना। सकल कला सब विद्या हीना॥[५]॥

× × ×

जे जनमे कलि काल कराला। करतब वायस वेष मराला॥
चलत कुपंथ वेदमग छाँड़े। कपट कलेवर कवि मल भाँड़े॥

---

२. मानस बा० कां० ७ (ध)। ५–६। नोट—सूक्ष्म विवेक से 'मति' और बुद्धि में कुछ थोड़ा भेद दिखेगा।

३. मानस बा० कां० ८। नोट—कर्म संस्कारों के सामूहिक फल को ही 'भाग्य' कहते हैं।

४. मानस बा० कां० ८।४। नोट—भाषा भणित (भणिति) का अर्थ लोग 'भाषा' में अथवा हिन्दी में की गई 'कविता' लगाते हैं। परन्तु हमारी समझ में 'भाषा भणित' का अर्थ किसी विशिष्ट भाषा की विशिष्ट शैली से सीमित नहीं है। 'भणित' 'भण्' धातु का रूपान्तर है जिसका अर्थ होता है 'कहना' इसलिए 'भाषा भणित' का अर्थ हुआ 'किसी भी भाषा में कहा गया।'

५. मानस बा० कां० ८।८ गीताप्रेस की गुटका-प्रति में 'चतुर' के स्थान में 'वचन' पाठ है। परन्तु हमारी समझ में 'चतुर' ही उपयुक्त है।

बंचक भगत कहाइ राम के। किंकर कंचन कोह काम के।।
तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी। धिक धरम ध्वज धंधकधोरी।।
जौं अपने अवगुन सब कहऊँ। बाढ़इ कथा पार न लहऊँ।।
तातें में अति अलप बखाने। थोरे महुँ जानहहि सयाने।।[६]।।

अर्थ यह निकलता है कि मानस लिखने के पूर्व तुलसी के सम्मुख एक बड़ी गहरी समस्या उठ खड़ी हुई। उनकी अभिलाषा रामचरित वर्णन करने की थी; और यह अभिलाषा भी बड़ी सुन्दर और महत्वपूर्ण। पर वह कैसे पूरी हो, तुलसी इसी उधेड़बुन में पड़ गये। पहले तो उन्हें अपने आदर्श प्रभु के चरित ही अथाह (अवगाह) दिखे। दूसरे, उन्हें अपनी मति (बुद्धि) अत्यन्त लघु मालूम हुई। तीसरे, यदि भाग्य का भरोसा किया जाता तो वह भी छोटा निकला। भाग्य यथार्थतः पूर्व में किये गये कर्मों के फलों के संचित सत्व (Essence) या संस्कार को कहते हैं। इसलिए, जब तुलसी अपने पूर्व कर्मों पर विचार करते है तो वहां भी निराशा उत्तर देती है। चौथे, तुलमी जब वाणी या भाषा का आश्रय लेने दौड़ते है तो वह भी जवाब दे देती है कि हम अपूर्ण है। पाँचवें, उन्हें जब यह स्मरण आता है कि उन्हें तो मानस की रचना कविता में करना है तो वे और भी अधिक ठंडे पड़ जाते है क्योंकि उनके ध्यान में आता है कि न तो वे कवि ही हैं और न उनमें कवि-कुलोचित स्वाभाविक अथवा अन्यान्य प्रकार से अर्जित चतुरता और प्रवीनता ही है बल्कि वे समस्त कलाओं और विद्या से हीन हैं। 'कवि' यथार्थ में ईश्वर की उपाधि है,[७] और उसका अर्थ होता है वह शक्ति जो सबकी सब

---

६. मानस बा० कां० ११।१-६। नोट—'धिक' के स्थान में 'धृक', "धिग' 'धींग' पाठ मिलते हैं। 'धोरी' 'धुर' का रूप प्रतीत होता है।

७. "सपर्यगात..........अपाप विद्धम।
कविः मनीषी.......शाश्वतीभ्यः सामाभ्यः"।।
यज० संहिता मंत्र ८।

ओर से जाँच परख कर सके। परन्तु इन सबसे अधिक ग्लानि उत्पन्न करने वाली छठवीं कमी उन्हें मिली 'धर्मत्व' की त्रुटि में अर्थात् सद्गुणों की क्षीणता में, क्योंकि सृष्टि को धारण करने वाले समस्त सद्गुणों का उद्-बोधन केवल एक शब्द 'धर्म' से हो जाता है। उधर मनसा-वाचा-कर्मणा की कमी थी, तो इधर सद्गुणों के स्थान हृदय की कमजोरी आ पड़ी। उन्होंने देखा कि लोग हंस जैसा वेष बना कर जनता को ठगते हैं हालाँकि कर्म उनके कौआ जैसे निकृष्ट होते हैं। उन्होंने इस श्रेणी में उन लोगों को पाया जो वेदमार्ग को त्याग कुपंथी हो गये थे तथा लोभ-क्रोध-मोह के हाथ बिके हुए होकर भी रामभक्त बने फिरते थे। गरज यह कि यद्यपि ऐसे लोग अपने आपको धर्म-ध्वजाधारी कहने का दावा करते थे तथापि धंधा उनका धिक्कृत ही रहता था। इन लोगों की अधर्मता का चित्र खिंचते ही तुलसी भी अपना हृदय टटोलने दौड़े तो वहाँ भी उन्हें चन्द्रमा के जैसे दाग दिखे, और कहने लगे कि मैं दूसरों के दोष क्या कहूँ, मुझमें खुद इतने अधिक अवगुण हैं कि संसार के अवगुणियों में मेरा नम्बर ही पहला होगा। इस तरह हम समझ गये कि रामचरितमानस लिखने के पूर्व तुलसी ने अपने हृदय, मन, वचन और कर्म सबकी ओर आँख डाली पर सबने जवाब दे दिया कि हम असमर्थ हैं। हृदय ने कह दिया हम उस सर्वगुण सम्पन्न प्रभु के सम्मुख अत्यंत तुच्छ हैं क्योंकि उसके मुकाबले हममें अवगुण ही अवगुण हैं। मन अथवा बुद्धि बोल उठी, हम उस सर्वव्याप्त परमात्मा को क्या जान सकें, क्योंकि वह तो ज्ञान (Knowledge) का विषय ही नहीं—वह तो अनुभूति (Realisation) का विषय है। जब बुद्धि का यह उत्तर वाणी ने देखा तो वह घबड़ाकर बोली कि हमारा आश्रय तो बुद्धि है—हम तो उसी की अँगुली के बल पर नाचते रहते हैं, जब वही घुटना टेक रही है तो हमारा भरोसा करना व्यर्थ है। अंत में कर्म की बारी आयी तो वह तो मानो चीख ही पड़ा और उस भगवान् के हर पल किये गये निष्काम कामों का स्मरण कर बोल उठा कि मैं तो अत्यन्त आलसी, सकामी, कपटी रहा हू—मैं किस प्रकार उस सर्वसमर्थ राम की कृपा-रश्मि

को अपने छोटे-खोटे कामों के द्वारा आकर्षित कर सकता हूँ। गरज यह कि अपने सर्वसमर्थ आदर्श राम के सम्मुख सब ओर से उठी हुई अपनी असमर्थता की ध्वनि जब तुलसी ने अपने समस्त शरीरांगों से सुनी तो उन्हें कुछ बेचैनी सी हुई (सूझ न एकउ अंग उपाऊ)[८] और सोचने लगे कि अब क्या किया जाय। तब अनुसंधान करने पर व्यापक विश्वरूप भगवान्[९] की ओर ही ताका। उस ओर ध्यान देते ही बल आया और कह उठे—

"तेहि बल मैं रघुपति गुणगाथा। कहिहौं नाइ राम पद माथा"॥[१०]॥

यह व्यापक विश्वरूप भगवान् क्या है। यह है वही श्रेयस्कर आत्मैक्य-शक्ति जो सब में अभेद रूप से अन्तर्स्थित है। वही धर्म नाम से भी विख्यात है। इसमें अचल विश्वास (बट विश्वास अचल निज धर्मा) हुआ कि सब की सब ग्लानियां-कठिनाइयां आदि दूर हुई।

मानस लिखने के कारण

आत्मबल आ जाने पर ग्लानि तो दूर हुई सही, पर एक हिचकिचाहट फिर तुलसी के मन में उठी। उन्होंने सोचा, जिस राम के अनन्त नाम और अनन्त गुण हैं और जिसकी कथा अमित विस्तार वाली है[१२] जिसका गुणगान शारदा, शेष, महेश, ब्रह्मा, शास्त्र, वेद निरंतर करते-करते थक जाते पर नेति नेति (न + इति) कहने लगते हैं[१३] तथा जिसकी 'प्रभुता किसी से छिपी नहीं है' उसी की कथा-वार्त्ता को मेरे द्वारा भाषा-बद्ध करने से क्या लाभ होगा? तुलसी स्वयं इसका उत्तर देते हैं कि उससे मेरी तथा समाज दोनों की

---

८. यहाँ अंग का अर्थ शरीरांग ही लेना उपयुक्त है।
९. मानस बा० कां० १२।४
१०. मानस बा० कां० १२।९
११. मानस बा० कां० १।११
१२. मानस बा० कां० ३३
१३. मानस बा० कां० १२

भलाई होगी। अपने विषय में उनका कहना है कि सबसे पहले तो मुझसे कहे बिना रहा ही नहीं जाता जैसा कि अन्य लोगों से भी कहे बिना नहीं रहा जाता हालाँकि सब उस प्रभु की प्रभुता को जानते हैं—

'सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिन रहा न कोई॥'[१४]

दूसरा कारण तुलसी ने बताया कि बिखरे हुए विचारों को यथाविधि लिख डालने से मुझे प्रबोध होगा अर्थात् विचार परिपक्वता आ जावेगी—'भाषा-बद्ध करब मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहि होई॥'[१५] यही बात प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान् और निबंध लेखक लार्ड बेकन ने यह कह कर बताई है कि 'लिखना मनुष्य को परिपक्व बना देता है' (Writing makes a man perfect)। तीसरी बात तुलसी ने यह कही है कि सीताराम के यश-गुणगान से न केवल मेरे मन और कर्म में पवित्रता आवेगी वरन् मेरी वाणी (भाषा) भी पवित्र होगी। 'भणित भदेस वस्तु भलि वर्णी। राम कथा जग मंगल करणी॥'[१६] अथवा 'प्रभु सुयश संगति भणित भलि होइहि सुजन मन भावती।'[१७] चौथी बात जो सबसे अधिक महत्व की तुलसी ने कही, वह है अपने अन्तस्थ में सुख प्राप्ति की 'स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा भाषा निबंध मति मंजुलमातनोति'[१८] आंतरिक (स्व + अन्तः) सुख आन्तरिक पवित्रता के बिना नहीं मिलता और आन्तरिक पवित्रता बिना हरिस्मरण अथवा हरि-कीर्तन के, जिनकी यथार्थता पर आगे कहेंगे, नहीं आ सकती। इसीलिए तुलसी ने कहा कि रघुनाथ गाथा कहने का उनका प्रयोजन यही है कि वे आन्तरिक पवित्रता को प्राप्त कर अन्तःकरण में सत्य

---

१४. मानस बा० कां० १२।१

१५. मानस बा० कां० ३० (ख)

१६. मानस बा० कां० ९।१०

१७. मानस बा० कां० ९। छंद की तीसरी पंक्ति

१८. मानस बा० कां० प्रारंभिक मंगलाचरण का अंतिम पद देखो फुटनोट नं० १० 'भणित भदेस वस्तु भलि बरनी' और मानस बा० कां०

सुख की अनुभूति कर सकें। यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि तुलसी ने जब अन्य स्थानों पर भाषा को अनुपयुक्त अर्थात् भद्दी (भणित भदेस) कहा है[१९] तो यहाँ भाषा-निबंध को मंजुल क्यों कहा ? क्या इसमें विरोधापत्ति का दोष है ? नहीं; यथार्थ में तुलसी की दृष्टि से मंजुल रघुनाथ-गाथा है न कि भाषा-निबंध। मंजुल रघुनाथ गाथा के संसर्ग से भाषा-निबंध आलंकारिक प्रयोग में उसी प्रकार मंजुल कहा गया है जिस प्रकार चंद्रमा के संसर्ग से हम रात्रि को ही उजेली रात कहते हैं, हालाँकि रात खुद का स्वाभाविक गुण अंधेरापन है।

समाज की दृष्टि से तुलसी ने रघुनाथ गाथा भाषाबद्ध इसलिए की कि जिस आदर्श राम को उन्होंने अपनाया है वह वही सर्वव्याप्त निर्गुण-सगुण रूप है जो संसार का नियंता, कर्त्ता-धर्ता आदि है। वही सृष्टि को उन्नति पथ पर ले जाने वाला है। वही जरा-मरण द्वन्द्वात्मक जगत् से मुक्त करने का मार्ग-दर्शक है। उसी का प्रतिबिम्बन दशरथ के पुत्र पुरुषोत्तम राम के चरित्रों में पाया जाता है। जब ऐसे आदर्श को तुलसी ने अपनाया है तो निस्संदेह उसके चरित्र वर्णन से समाज को लाभ ही होगा। समाज भी उसी तरह पवित्रता तथा अन्तःकरणीय सुख प्राप्त कर सकेगा जिस तरह की आकांक्षा तुलसी ने 'स्व' के विषय में उपर्युक्त प्रकार से प्रकट की है। सच पूछा जाय तो संत तुलसी के लिए लौकिक 'स्व' और 'पर' का कोई भेद ही नहीं रहता, जैसा पहले कहा जा चुका है। उनका 'स्व' सर्वसंसार के 'स्व' में लीन हो जाता है, या सर्वसंसार का 'स्व' उनके 'स्व' से संयुक्त हो जाता है। इसलिए सैद्धांतिक दृष्टिकोण से वह सर्वसमाज का कल्याणकारी होगा, यही ध्येय रखकर तुलसी ने राम का चरित्र भाषा-बद्ध कर मानस की रचना की। उसके कल्याणकारी गुण को उन्होंने सैकड़ों नहीं सहस्रों बार दुहराया है। परन्तु यहाँ उदाहरण स्वरूप उनकी निम्न पंक्तियों को ही देख लेना पर्याप्त होगा, जो उन्होंने बालकांड के प्रारंभ में ही मानस

१९. १३।१० 'राम सुकीरति भणित भदेसा।'

रचना के प्रबंध (Scheme) को बताते समय लिख दी है—'रामकथा जगमंगल करनी'[२०] 'मंगलकरनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथ की'[२१] 'प्रिय लागहिं अति सबहि मम, भणित रामयश संग'[२२] 'सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही, मधुकर सरिस संतगुण ग्राही'[२३] इत्यादि।

शंका की रोक के लिए तुलसी के दो मूल निवेदन

यद्यपि 'राम कथा जगमंगल करनी' है तथापि तुलसी का अनुमान हुआ कि उसमें कुछ ऐसी आश्चर्यमय अद्‌भुत बातों का उल्लेख करना पड़ेगा कि उन्हें सुनकर श्रोताओं को उसकी सत्यता में संदेह हो उठे तो कोई आश्चर्य नहीं। इसीलिए हमारी समझ में तुलसी ने एक लम्बी भूमिका लिख डाली है जिसमें कुछ आवश्यक चेतावनियाँ पाठकों को दे रखी है ताकि वे उक्त प्रकार के संदेहों में न पड़ें। पाठक पुनः स्मरण करें कि उन्होंने एक तो यह बताया कि राम् अनन्त हैं और उनके गुण-रूप भी अनन्त हैं, और इसलिए उनकी कथा भी असीम और अथाह है। दूसरे, इसका पार जब देवी देवता जो गुणों के साक्षात् अतीव रूप (Personified qualities in abundance) माने जाते हैं, नहीं पा सकते तो मनुष्य किस मूली की जड़ है। तिस पर तुलसी ने तो अपनी असमर्थता और दीनता का चित्र बड़ी विशिष्टता के साथ प्रस्तुत कर यहाँ तक कह दिया है कि जग के अवगुणियों में मेरी रेख प्रथम ही समझिए। यह सब प्रकट करने के बाद ही तुलसी ने समाज के लोगों से कहा कि मेरे द्वारा मानस में भाषा-बद्ध की गई इस संक्षिप्त-रूपिणी राम-कथा को सुन, यदि किसी के मन में तत्संबंधी कोई बात समझ में न आवे या आश्चर्यप्रद होने से अविश्वसनीय समझी

---

२०. मानस बा० कां० ९।१०

२१. मानस बा० कां० ९। छन्द प्रथम पंक्ति

२२. मानस बा० कां० १० (क)

२३. मानस बा० कां० ९।६

जावे तो वे मुझे खोरी न दें अर्थात् मुझ पर दोषारोपण न करें, क्योंकि मैंने जो कुछ उसमें लिखा है वह पूर्वकाल में लिखे गये वेद-शास्त्र-पुराणादि तथा अन्य ग्रंथों में कही हुई बातों को आधार मानकर ही तो लिखा है (नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि)[२४]। इसलिए यदि खोरी दी जाय तो उनको दी जाय न कि मुझको, और वह भी तब जब यह अच्छी तरह से जांच लिया जाय कि किसने किस आधार पर किन परिस्थितियों में, क्यों और कब लिखा। फिर मैं तो, तुलसी कहते हुए प्रतीत होते हैं, उस परीक्षार्थी के समान क्षम्य हूँ जो केवल मैट्रिक की योग्यता रखता हो पर प्रेरणावश अथवा परवश ही कहिये (तदपि कहे बिन रहा न कोई), प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण एम० ए०, एम० एस-सी० (M. Sc.) आदि के साथ किसी उच्च विषय की परीक्षा देने बैठ गया हो और जब वे ही फेल हो गये तो मेरा कौन बुनियाद; क्योंकि मैं अपनी योग्यता ही के अनुरूप तो अपना कार्य बता सकता हूँ। इतने पर भी यदि किसी ने मुझ पर शंका की तो, तुलसी का कहना है, वह मुझसे भी अधिक ओछी मतिवाला मूढ़ ही समझा जाने योग्य हो सकता है। यह कहा है उन्होंने—

समुझि विविध विधि बिनती मोरी। कोउ न कथा सुनि देइहि खोरी॥
एतेहु पर करिहहिं जे संका। मोहि ते अधिक ते जड़ मति रंका॥[२५]

हमारे उक्त विवेचन पर ध्यान रखने से उन आलोचकों के इस तर्क में कोई तथ्य नहीं रहता, जो यह कहते हैं कि तुलसी ने ये पंक्तियाँ इसलिए रच डाली हैं कि मानस के श्रोता चूं-चपट न करें और अन्ध-विश्वासी बन जावें या बने रहें। इन्हीं पंक्तियों के ठीक नीचे आपको निम्न पंक्तियाँ भी पढ़ने को मिलती हैं, जो इन शंका-ग्रस्त आलोचकों की आँखें खोलने के लिये पर्याप्त हैं :—

---

२४. मानस बा० कां० प्रथम मंगलाचरण

२५. मानस बा० कां० ११।७-८

कवि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ। मति अनुरूप राम गुन गावउँ।।
कहँ रघुपति के चरित अपारा। कहँ मति मोर निरत संसारा।।
जेहि मारुत गिरिमेरु उड़ाही। कहहुतूल केहि लेखे माहीं।।

इन पंक्तियों में हमें प्रक्षिप्तता प्रतीत होती है जो किसी ने बाद में उक्त प्रकार की शंका निवारण के लिए जोड़ दी हो। इसी प्रक्षिप्तता के कारण उन्हें हमारे पास की एक अप्रचलित अप्रक्षिप्त मंजु संस्करण नाम की रामायण में कोई स्थान नहीं दिया गया। जो भी हो उक्त शंका निर्मूल है, क्योंकि तुलसी ने कई स्थानों पर यही कहा है कि 'हरि चरित्र अनूप है और उन्हें मैंने अपनी मति के ही अनुरूप कहा है।' (देखो उ० कां० १२२ (ग)।१ और १२७ (१)।

शंकावरोध का उपाय

तुलसीदास ने भले ही कुछ कह दिया हो, पर क्या किसी के कहने से शंकाएँ रुक सकती हैं? वे तो तभी रोकी जा सकती हैं जब श्रोता की बुद्धि निर्मल हो। शंका-ग्रस्त स्थिति इन्द्रिय-जनित होती है। इंद्रियों में बहुधा मन की गणना नहीं करते। परन्तु अनेक तत्त्वज्ञानी मन को ही प्रधान इन्द्रिय मानते हैं, क्योंकि मन सुषुप्त तो अन्य इन्द्रियाँ सुषुप्त, और मन जागृत तो अन्य इंन्द्रियाँ जागृत हो जाती हैं। इसीलिए गीता में 'मन:षष्ठानीन्द्रियाणि'[२६] और 'इन्द्रियाणि दशैकं'[२७] आदि कहकर मन को भी इन्द्रिय कहा है। मन की व्यवस्थित गति ही बुद्धि कहलाती है। इसलिए यदि मन इन्द्रियों का राजा है तो बुद्धि को उनका राजेश्वर तथा आत्मा को महाराजेश्वर कहना उचित होगा। तात्पर्य यह कि आत्मा को छोड़ ज्ञान के समस्त साधन इन्द्रिय ही होते हैं। इसलिए अभ्रम-ज्ञान-प्राप्ति के लिये अपनी इंद्रियाँ शुद्ध-अविचलित दर्पण के समान बनाना पड़ती हैं। कहते है, यथा राजा

---

२६. गीता १५।७
२७. गीता १३।५

तथा प्रजा। इस कहावत के अनुसार यदि बुद्धि अविकृत हो तो अन्य ज्ञानेन्द्रियों से अभ्रम ज्ञान अवश्य मिलेगा। यह अविकृत बुद्धि दीप की उस लौ के समान कही गई है, जो बिना लेश-मात्र प्रकम्पन के सीधी जलती हुई प्रकाश दे रही हो। ऐसी स्थिर बुद्धि को गीता में, हमारी छोटी बुद्धि के अनुसार व्यवसायात्मिका बुद्धि[28] इसलिए कहा है कि हर कर्म (व्यवसाय) में सिद्धहस्त होने के लिये उसकी आवश्यकता रहती है। बुद्धि की स्थिरता से ही विवेक होता है। इसलिए मानस के पाठकों ने देखा होगा, तुलसी ने बारबार कहा है कि बिना विवेक के ज्ञान नहीं होता, अथवा विवेक ही ज्ञान है। अतः भ्रम से बचने का उपाय है, बुद्धि की निर्मलता या विवेक का प्राप्त करना।

श्रोताओं की कोटियों के अनुरूप सन्देह-निरूपण

चूँकि पूर्ण विवेकी कोई नहीं होता इसलिए जिस कोटि का विवेक श्रोता में होता है उसी के अनुरूप उसमें सन्देह या भ्रम उत्पन्न होता है। अतः सन्देह के रूपों का अनुमान लगाने के लिये हमें यह देखना चाहिए कि तुलसी ने मानस के श्रोताओं की कितनी कोटियाँ निर्धारित की हैं। श्रोता वही हो सकता है जिसे वक्ता के विषय को सुनने की रुचि हो। पर आपको ऐसे भी श्रोता मिलते हैं जिन्हें रुचि तो नहीं होती, पर उन्हें कभी-कभी लोक व्यवहार को निबाहने (जैसे सत्यनारायण की कथा को सुनने जाना), कभी-कभी स्वार्थवश (जैसे स्वतंत्रता दिवस के समय राष्ट्रीय गीत में सम्मिलित होना), कभी-कभी परवश (जैसे विजित लोगों का विजेताओं के द्वारा आयोजित प्रोग्रामों में भाग लेना), कभी केवल कतर-ब्योंत के अभिप्राय से (जैसे विरोधी दल के व्याख्यानों को सुनना) अथवा कभी और अन्य कारणों से सुनना पड़ता है।

---

२८. गीता २।४१